भारत और चीन

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
उप-राष्ट्रपति

अनुवादक
गगारत्न पांडेय

१९५६
अशोक प्रकाशन
लखनऊ

प्रथम हिन्दी संस्करण मार्च, १९५६

मोनोटाइप १२ पॉइंट में
अशोक प्रेस, लखनऊ ने कम्पोज़ किया,
साहित्य मन्दिर प्रेस, पवन प्रेस और भार्गव प्रेस लखनऊ ने मुद्रण किया

विषय-सूची

यह अनुवाद

पथ-प्रदर्शन ही नही, अनुगमन भी एक विशेष क्षमता की अपेक्षा रखता है। भाव-विदग्ध ज्ञान-पूत मगल-वाणी का उद्घोष सामान्य जिह्वा की सामर्थ्य नही है। पर ऐसे उद्घोष का अनुवाद भी अत्यन्त कठिन होता है। अनुवादक की व्यक्तिगत अक्षमता से अनुवाद के स्वर-शिथिल व व्यजन-कटु हो जाने का अत्यधिक भय रहता है। डाक्टर राधाकृष्णन् जैसे विश्व-विख्यात तत्त्वदर्शी मनीषी के इन प्रवचनो और सम्बन्धित परिशिष्टो का अनुवाद करते समय मेरा मन अपनी अल्पज्ञता और असमर्थता के बोध से निरन्तर अभिभूत रहा है। जितनी शीघ्रता से जिन परिस्थितियो में यह अनुवाद करना पडा है उनसे भी इस काम में मेरी कठिनाइयो की ही वृद्धि हुई है। पर, काम आ पड़ने पर, भूलो और असफलताओ के भय से, उससे मुंह नही मोडा जाता। सो, यह अनुवाद आपके सम्मुख है। मेरा विश्वास है कि मेरी असमर्थता और अक्षमता की छाप इस पर है। हाँ, अपनी ओर से इतना अवश्य कहना है कि यथाशक्ति और परिस्थितियो के अनुसार यथा-सम्भव अनुवाद पूर्ण सत्य-निष्ठा के साथ किया गया है। सम्भव है यथोचित समय मिल पाता तो और अधिक सन्तोष-पूर्वक यह अनुवाद आपके सम्मुख मे रखता। फिर भी सहृदय और विचक्षण पाठक मेरी भूलो में न भरम कर, मूल-लेखक के उद्बोधन और सन्देश का मर्म अपनायेंगे, यही मेरी कामना और आशा है।

मूल पुस्तक में कुछ अतुकान्त कविताए उद्धृत है। इनमें से अधिकाश चीनी कविताओ का अँग्रेजी उल्था है। इन सब कविताओ का

यह अनुवाद

अनुवाद हिन्दी मे भी कविताओ में ही किया गया है। अनुवाद में मूल के छन्दो का अनुकरण नही किया गया। कुछ और भी सामान्य सुविधायें ली गई हैं। आशा है पाठक इस प्रयास से असन्तुष्ट न होगे।

यह अनुवाद करते हुए मुझे समय-समय पर अपने कालेज के उप-प्रधानाचार्य आदरणीय श्री निर्मलचन्द्र जी चटर्जी से बहुमूल्य परामर्श मिलता रहा है। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

गंगारत्न पाण्डेय

कान्यकुब्ज कॉलेज, लखनऊ
महाशिवरात्रि, २०१२।

१

भूमिका

निमन्त्रण

१९४२ में एक प्रस्ताव आया कि मै चुगकिंग जाऊँ। इस यात्रा का उद्देश्य चीन की सरकार को रवीन्द्रनाथ टैगोर का एक चित्र भेंट करना तथा महाबलाधिकृत च्यॉग-काई-शेक द्वारा उसका उद्घाटन कराना था। पर अगस्त-विद्रोह तथा अन्य कठिनाइयो के कारण यात्रा का विचार छोड देना पडा, यद्यपि टैगोर का चित्र भेज दिया गया और उसका उद्घाटन हो गया। यह चित्र 'चीनी-भारतीय समाज' (सिनोइडियन सोसाइटी) के चुगकिंग-स्थित भवन में एक केन्द्रीय स्थान पर सुशोभित है। भारतीय और चीनी सस्कृतियो के नवीन और पुनरुज्जीवित सहयोग का यह चित्र प्रतीक है। इस वर्ष मार्च के महीने में चीन की सरकार ने फिर निमत्रण भेजा और प्रार्थना की कि अप्रैल और मई महीनो में मै पाच-छ सप्ताह चीन मे बिताऊँ। मैने मई मास में दो या तीन सप्ताह चीन में बिताना स्वीकार कर लिया। वास्तव में मैंने पूरे १५ दिन चुगकिंग में और उसके आस-पास बिता दिये। विश्वविद्यालयो, विद्वत्-समाजो और बौद्ध तीर्थ स्थानो को देखता रहा। लगता है कि मेरी चीन-यात्रा का यह समय अच्छा न

था। चीन की परिस्थिति जटिल और निराशाजनक थी। राष्ट्रवादी दल (कोमिनताग) और कम्यूनिस्टो के वीच मत-भेद वहुत तीखा हो गया था और चीनी प्रतिरोध की शक्ति में वाधा डाल रहा था। होनान प्रान्त में आक्रमण पूरी तेजी मे चल रहा था। चीन वहुत व्यस्त था और इसीलिए वहुत-से लोग महसूस कर रहे थे कि सास्कृतिक उद्देश्य और सन्देश लेकर चीन जाने के लिए यह समय उपयुक्त था भी, या नही। लेकिन कुछ और कारणो से मेरा मन इस प्रस्तावित यात्रा के पक्ष में हो गया था। मुझे एक प्रकार की लज्जा-सी थी कि योरोप तो मै आधे दर्जन वार घूम आया था लेकिन सुदूर पूर्व जाने का एक भी अवसर न निकाल पाया था। पश्चिम की भाषा, पश्चिम के साहित्य, धर्म और वैज्ञानिक ज्ञान के सम्वन्ध में भारतियो को पूर्व की भाषा, साहित्य आदि की अपेक्षा कही अधिक ज्ञान है। चीन की यह अव्यवस्थित परिस्थिति ही सम्भवत एक मैत्रीपूर्ण यात्रा के लिए उपयुक्त अवसर थी। इसके अतिरिक्त राजनीतिक कठिनाइयो ने चीन की ज्वलन्त आध्यात्मिक शक्ति को मुक्त कर दिया है। हर दिशा में, सब कही, एक रचनात्मक निर्माणमूलक उत्साह के लक्षण दिखाई दे रहे थे। विविध प्रकार के—पूर्वी और पश्चिमी परम्परागत और क्रान्तिकारी—सैन्य दलो और शक्तियो के सघर्षो से मानव-चेतना जाग्रत् हो गई है। इस उद्बुद्ध चेतना का भविष्य अभी अनिश्चित है। भारत भी ऐसी ही जाग्रति के युग से गुजर रहा है। वाह्य सस्थाओ के पतन को देखते हुये इसी जाग्रति से कुछ सतोष मिलता है। और इसके अलावा आज हम जिन कठिनाइयो को झेल रहे है वे उन परीक्षाओ के सम्मुख कुछ भी नही है जिनमे सदियो पहले पर्वतो और सागरो को पारकर चीन जाने-वाले हमारे पूर्वज तपकर निकले थे। सास्कृतिक सहयोग की सिद्धि में

उन्होंने जो प्रयत्न किये थे वही आज हमारे लिए प्रेरणा दे रहे हैं।
इसलिए मैंने यह यात्रा की, इस उद्देश्य से कि चीन के विश्वविद्यालयों की
यह मेरी प्रदक्षिणा हमारे दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्धों को
और अधिक दृढ बनाने में कुछ सहायता दे।

चीन के विश्वविद्यालय

विचार विश्व को गति देते हैं। कार्य विचार का अनुगामी है। चीन की शिक्षा-संस्थायें ही वे केन्द्र हैं जहाँ नवीन चीन का निर्माण हो रहा है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान परम्पराओं के बन्धन से मानव मस्तिष्क को मुक्त करने की अपेक्षा करता है, एक नवीन सरल भाषा के विकास की प्रस्तावना करता है—ऐसी भाषा जो सार्वजनिक शिक्षा का सफल प्रभावपूर्ण साधन बन सके और जो एक नवीन संस्कृति के विकास का प्रभावपूर्ण माध्यम बन सके। इस पुनरुत्थान को गति दे रहे हैं विश्वविद्यालयों के नेतागण। ये विश्वविद्यालय चीन की राष्ट्रीयता के गढ हैं, और इसीलिए चीन के शत्रुओं की विशेष कृपा भी इन पर रही है। अधिकतर चीन के शिक्षक और विद्यार्थी अपने ऐतिहासिक शिक्षा-पीठों से बाहर निकाल दिये गये हैं—जिस धरती में उनकी जडें थी उससे उखाड फेंके गये हैं। ये लोग स्वतंत्र चीन चले गये हैं। वहाँ बडी कठिनाइयों, शारीरिक असुविधाओं को झेलते हुये ये लोग अद्भुत लगन से काम कर रहे हैं। विशाल आलीशान इमारतें नहीं हैं साधन-सम्पन्न प्रयोगशालायें नहीं हैं और न अच्छे पुस्तकालय ही हैं। काम चलाऊ बाँस और मिट्टी की बनी हुई झोपडियों में कक्षायें लगती हैं। मेजें और कुर्सियां चीड के तख्तों की बनी हुई हैं। विश्वविद्यालय अध्यापकों और

विद्यार्थियो का समाज है, उनकी सस्था है और ऐमा समाज, ऐसी सस्था बराबर जीवित रहती है, भले ही उन अध्यापको और विद्यार्थियो द्वारा काम मे लाई जानेवाली इमारते मिट्टी में मिला दी जायँ। विश्व-विद्यालयो के जिन विभागो को उनके पुराने आवासो से निकाल बाहर किया गया था वे अब एकत्र हो गये है और यह एक बहुत बडी सफलता है। गरीब होकर हम फिर से सम्पत्ति प्राप्त कर सकते हैं, बीमार हो तो फिर से स्वास्थ्य-लाभ कर सकते है, लेकिन अगर हम मर गये तो धरती पर कोई शक्ति नही जो फिर से हमे जीवित कर सके। चीन के विश्वविद्यालयो का यह लक्ष्य है कि चीन की आत्मा जीवित रहे। मेरा ऐसा अनुभव है कि चीन के जो शिक्षक सदियो से सामाजिक जीवन मे बडी ऊँची प्रतिष्ठा पा रहे थे, आज बहुत अधिक कष्ट झेल रहे है। चीन में विद्वान् ही अधिकारी वर्ग में होते हैं। बहुत-से राजदूत और कूटनीतिज्ञ विश्वविद्यालयो के शिक्षको में से है। बर्लिन-स्थित भूतपूर्व चीनी राजदूत इस समय 'केन्द्रीय राजनीतिक प्रतिष्ठान' (सेंट्रल पोलिटिकल इन्स्टीट्यूट) के प्रधान है। अध्यापको का वेतन बहुत कम है। उन्हें वही वेतन मिलता है जो युद्ध के पहले की परिस्थिति में मिलता था और आज बहुत ही अपर्याप्त हो गया है। थोडी-सी वृद्धि जो उनके वेतन में की गई है वह न कुछ के बराबर है, खासकर यदि हम आवश्यक पदार्थो के मूल्यो में होनेवाली वृद्धि का विचार करते है। मेरा विचार है विद्यार्थियो को भी पर्याप्त भोजन नही मिलता और शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनो ही आर्थिक सकट से परेशान है। सुख और सुविधा का जीवन उनके लिए स्वप्न हो गया है और सुरक्षा उनके लिए हँसी है।

फिर भी युद्ध विश्वविद्यालय की भावना और विद्यार्थियो की

संख्या वृद्धि को रोकने में सफल नहीं हो सका। मुझे मालूम हुआ है कि चीन के विश्वविद्यालयों में इस समय जितनी विद्यार्थियों की संख्या है उतनी पहले कभी नहीं रही। सहशिक्षा का तो नियम ही है। लडके और लडकियाँ स्वतन्त्र और प्रफुल्ल जीवन में साथ-साथ काम करते हैं। इस स्वतन्त्रता और निर्बन्ध जीवन से उनके बीच किसी प्रकार की उच्छृंखलता या स्वेच्छाचारिता नहीं पनपने पाई। उन्मुक्त प्रेम और साहचर्य-परिणय की चर्चा चाहे जितनी हो पर अधिकाश नवयुवक और नवयुवतियाँ शरीर और मन से स्वस्थ और स्वच्छ दिखाई देती हैं। निस्सन्देह अवाछित घटनायें होती हैं और प्रवाद भी फैलते हैं, पर इनकी संख्या अमेरिका और ब्रिटेन के सुप्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में होनेवाली ऐसी घटनाओं की संख्या से अधिक नहीं मालूम पडती। साधारणत सहशिक्षा वहाँ सफल ही हुई है। अभी कुछ समय पहले तक चीन में महिलाए घर की चहारदीवारी मे बन्द थी और उनकी शिक्षा उनके पारिवारिक जीवन में ही होती थी। बहुपत्नीत्व और माता-पिता की सरक्षकता हर महिला को पति और परिवार की चिन्ता से मुक्त रखती थी। चीन में महिलाओं को सार्वजनिक जीवन, व्यवसाय और शिक्षित आजीविकाओं से अलग रखा जाता था। अब कानून के द्वारा एकपत्नीत्व की प्रतिष्ठा की गई है और युद्धकालीन परिस्थितियों ने कुछ ऐसी आज़ादी दी है जिससे एक स्वस्थ सामाजिक जीवन का विकास सम्भव हो सकेगा।

विश्वविद्यालयों के मानदण्ड ऊँचे हैं। यद्यपि वर्तमान परिस्थितियों मे विज्ञान के विभिन्न विभागों में बहुत काम नहीं किया जा सकता है फिर भी आज चीन को विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान की अधिक आवश्यकता है। चीन की शिक्षा मे साहित्यिक अभिरुचि का बहुत

प्रमुख स्थान है। सदियो से चली आती कन्फ्यूशियन दीक्षा इसके लिए उत्तरदायी है। अभी क्रान्ति के बाद ही से वैज्ञानिक शिक्षा की ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया गया है। चीन की विज्ञान-परिषद् (साइंस सोसाइटी आफ चाइना) की स्थापना १६१४ में हुई थी। चीनी विद्वत्परिषद् (एकेडीमिआ सिनीका) की अनेक अन्वेषण-शाखाएँ है जो साहित्यिक और वैज्ञानिक दोनो प्रकार के विषयो में शोध-कार्य करती है।

युद्ध समाप्त हो जाने के बाद चीन को एक महान् अवसर मिलेगा कि बमो से ध्वस्त अपने नगरो और विश्वविद्यालयो का पुनर्निर्माण करे और ससार के सम्मुख सिद्ध कर दे कि अब भी उसमें वह कल्पना-शक्ति और सकल्प-शक्ति शेष है जिसने प्राचीन काल में स्थापत्य और अन्य कला-क्षेत्रों मे आश्चर्यजनक निर्माण किये थे। एक अमरीकी यात्री इटली के एक नगर से दूसरे में घूमता रहा और कौतूहल एव प्रशसा भरी दृष्टि से कला की अद्भुत कृतियो को देखता रहा तथा अपनी यात्रा के अन्त में अपने मार्ग दर्शक से पूछा—"कहिये, यह सब तो अद्भुत है, सब अतीत की महान् कृति है, लेकिन पिछले नौ वर्षों में आप लोगो ने क्या किया है?" यह प्रश्न जितना आश्चर्यजनक था उतना ही निरुत्तर करनेवाला भी।

खेती के सम्बन्ध में भी कोई परिवर्तन नही किया गया। एक पुरानी चीनी कहावत है—'किसान होने के लिए अध्ययन करने की जरूरत नही है, किसान बनना है तो जैसा पडोसी करता है करो।" गई-बीती पीढियो के पुराने तरीको का मोह, व्यापक व्यक्तिवादी दृष्टि-कोण और सहकारिता की भावना की कमी ने खेती मे उन्नति नही होने दी। अगर फसल बढाने के तरीको को अपनाना है तो खेती के तरीको

को भी आधुनिक रूप देना होगा। देश के अतुल खनिज साधनों का विकास नहीं किया गया। चीन राष्ट्र मूल्यांकन की क्षमता रखता है। वह युद्ध के बाद खेती की उन्नति के लिए पर्याप्त धन व्यय करने को तैयार होगा। चीनी लोगों का मस्तिष्क वास्तविकरूप से व्यावहारिक है। वे तत्त्व और तथ्य की बात करते हैं, इसीलिए आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों को अपनाने और अंगीकार करने में सब सफल होंगे।

विश्वविद्यालयों का वातावरण उत्साह से भरा हुआ है। विद्यार्थी-समाजों और परिषदों में रात में बहुत देर तक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं, राजनीतिक कल्पनादर्शों और अनन्त विभेदों के सम्बन्ध में विवाद चला करते हैं।

सभी शिक्षा संस्थाओं मे विद्यार्थियों को चीनी क्रान्ति के सिद्धान्तों से परिचित कराया जाता है। प्रति सोमवार को प्रात ११ बजे विद्यालयों के विद्यार्थी और शिक्षक राष्ट्र-ध्वज को सलामी देते हैं, डाक्टर सन यात-सेन के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं जिन्होंने चीन की क्रमिक विशृंखलता को रोका, लोगों में एकता की भावना उत्पन्न की और उनके राष्ट्रीय आत्म-सम्मान को बचाया, इस अवसर पर डाक्टर सन यात-सेन द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों को दुहराया जाता है। चीन के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पुनरुज्जीवन के लिए बनाई गई डाक्टर सन यात सेन की योजना[1] समूचे चीन राष्ट्र को पसन्द

[1] सैन मिन चू प्रयन के तीन सिद्धान्त निम्नलिखित है --
(अ) जन-जाति अथवा राष्ट्रीयता का सिद्धान्त। जातियों का विकास नैसर्गिक शक्तियों से हुआ है। नैसर्गिक शक्ति राजशक्ति (वैंग-ताओ) है। इस राजशक्ति से निर्मित समुदाय जाति है, राष्ट्र है। जातियों और राष्ट्रों का निर्माण करनेवाली नैसर्गिक

आई है। राष्ट्रवादी चीन, साम्यवादी और वाग चिंग वी के अनुयायियो ने इन सिद्धान्तो को स्वीकार कर लिया है, यद्यपि वे इन सिद्धान्तो की

शक्तियाँ है रक्त, आजीविका, भाषा, धर्म तथा परम्पराओ और आदतो की एकता। राष्ट्रीयता वह अमूल्य निधि है जो एक राज्य को अपने विकास और एक जाति को अपने अस्तित्व की अविच्छिन्नता के लिए प्रेरित और समर्थ करती है।

(ब) लोकतन्त्र या प्रजातन्त्र का सिद्धान्त। किसी भी सगठित और एकता में बँधे जन-समुदाय को एक जाति कहा जाता है। 'प्रभुसत्ता' क्या है? प्रभुसत्ता राज्य के क्षेत्र पर व्याप्त अधिकार और शक्ति है। जब जाति और प्रभुसत्ता का गठबन्धन हो जाता है तब जनता की राजनीतिक शक्ति का जन्म होता है। सरकार जनता की वस्तु है। यह जनता द्वारा जनता का नियमन है। और यह नियमन समस्त जनता के हित के लिए है, और जहाँ समूची जनता सरकार का नियमन करती है वहाँ जनता की प्रभुसत्ता दिखाई देती है।

(स) जनता की आजीविका का अथवा समाजवाद का सिद्धान्त। मिन्शेंग का अर्थ है जनता की आजीविका, समाज का कल्याण जनजीवन, और आजीविका के सिद्धान्त का लक्ष्य है जनता की उदर-पूर्ति की समस्याओ को हल करना। आजीविका की खोज सामाजिक विकास के नियमो के अनुकूल है। यही तो इतिहास की केन्द्रीय शक्ति है। उदर-पूर्ति की समस्या जनता की आजीविका की समस्या है। जनता की आजीविका को सुधारने के लिए निम्नलिखित सिद्धान्तो को कार्यान्वित करना होगा—(१) भूसम्पत्ति का समानीकरण और (२) अर्थ-सम्पत्ति का नियमन—चीन को राजकीय सूचना-समिति, चुगकिंग, द्वारा प्रसारित An Outline of the Organization of the Kuomintang and the Chinese Government (1940), से उद्धृत।

विविध व्याख्यायें करते है। कुछ दलगत सस्थाये है जो महाबलाधिकृत च्यॉग काई शेक के प्रत्यक्ष नियत्रण में काम करती है, जैसे केन्द्रीय शिक्षण-शिविर (सेण्ट्रल ट्रेनिंग कॉर) और केन्द्रीय राजनीतिक प्रतिष्ठान जिन्हे राष्ट्रवादी दल चलाता है। ऐसे आलोचक भी कम नही है जो इन्हें सैन्यीकरण का साधन मानते है। अकृपालु विदेशी कहते हैं कि महाबलाधिकृत प्रजातत्र की अपेक्षा कार्य-कुशलता अधिक पसन्द करते है और अल्पमत की राय को कुचल दिया जाता है और कुछ सस्थायें तो बन्दी-शिविरो से किसी प्रकार भिन्न नही है। राष्ट्रवादी शासन को प्रजातत्र के सिद्धान्त से असगत कहा जा सकता है, इस सिद्धान्त से जो डाक्टर सन यात सेन के तीन सिद्धान्तो में से एक है और जिसके अनुसार शासन-सस्थाओ का जनता द्वारा निर्वाचित और प्रजातान्त्रिक ढग से नियत्रित रहना आवश्यक है। राष्ट्रवादी दल ने एक प्रस्तावित सविधान तैयार किया है जिसके द्वारा युद्ध के बाद वे चीन में प्रजातत्र की स्थापना करना चाहते है और जिसमे ऐसी आधुनिक राजनीतिक धाराओ को शामिल किया गया है जैसे उपक्रम (इनीशियेटिव) और ऐसे मत्रियो की प्रत्याहूति (रिकॉल) जिन्होने जनता का विश्वास खो दिया हो। इस समय तो विद्यार्थियो और अध्यापको मे विचारो का कठोर नियत्रण किया जाता है। वर्तमान सरकार द्वारा प्रेरित जापान की प्रतिरोध भावना के अतिरिक्त और किसी बात को जनप्रिय नही कहा जा सकता। चीनी लोगो को इस बात की शिक्षा मिली है कि वे अपने आपको एक महान् परिवार के सदस्य समझें और इसलिए व्यापक क्षेत्रो में सगठित काय करने की शक्ति कम है। परिवार के प्रति यह मोह व्यापारिक सस्थाओ, सैनिक मामलो और शासन के क्षेत्र तक मे दिखाई देता है। यह आलोचना तो

बिलकुल सामान्य है कि एक या दो परिवार सत्तारूढ है और वे ही देश पर शासन करते है। एक नवजवान लडकी से जब चीन का मानचित्र खीचने को कहा गया तो उसने अर्थमन्त्री डाक्टर कुग का चित्र खीच दिया! और फिर भी क्षितिज पर दूसरे नेता नही दिखाई दे रहे। कानून उनके द्वारा बनने चाहिए जिन्हे उन कानूनो का पालन करना है। एक ऐसी सरकार ही शासन कर सकती है, उच्च स्तरो पर फैले भ्रष्टाचार को समाप्त कर सकती है, जान-माल की सुरक्षा कर सकती है और नई सधियो तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो से उत्पन्न कर्तव्यो का पालन कर सकती है जिसका नियत्रण प्रजातान्त्रिक ढग से किया जाता हो। उन सभी राष्ट्रो में प्रजातत्रीय सस्थाये सामान्यत काम नही कर पाती जो युद्ध में व्यस्त है। इस बात की पूरी-पूरी आशा है कि जैसे ही युद्ध समाप्त होगा चीन मे भी ये सस्थायें काम करने लगेंगी।

चीन में धर्म

चीन को चीनी भाषा में 'चुग को' कहा जाता है, जिसका अर्थ है मध्यम राज्य। मेन्शियस का कहना है कि "कन्फ्यूशियस ऐसे व्यक्ति थे जो अतिवाद से दूर रहते है।"[१] मध्यम कार्य-प्रणाली (मीन इन ऐक्शन) चीनी मान्य ग्रन्थो में से एक है। बौद्ध धर्म में मध्यम मार्ग को अपनाया गया है, और चीन ने बौद्ध धर्म को अपनाया है। स्वभावत चीन के लोगो में किसी प्रकार के अतिवाद पर विश्वास नही है। अपने विचारो मे चीनी लोग दुराग्रही या मतान्ध नही है। धर्म

---

[१] IV. 2 X Analects, XI. 15 देखिये।

एक एसा क्षेत्र है जिसमें लोग बडी सरलता से मतान्ध बन जाते है, लेकिन चीन का धर्म एक आह्लादपूर्ण ढग से इस बुराई स मुक्त है। परस्पर छिद्रान्वेषी धार्मिक विवादो के धूम-धुन्ध से चीन का जीवन दूषित नही हो पाया। राजनीतिक कारणो से लोगो को ताडना दी गई है, लेकिन यह ताडना योरोप के धार्मिक युद्धो अथवा धार्मिक परीक्षणो और दण्डो की विभीषिका तक कभी नही पहुँच पाई। चीनी लोग दृढ सिद्धान्तो के दास नही है और न वे मानव प्रकृति की पुकार तथा उसके सक्रिय तर्क और उदार-भाव के प्रति उदासीन ही है। तर्क और सद्बुद्धि ने कला, साहित्य और धर्म के क्षेत्र मे अन्ध-विश्वास और बरबादी को दूर करने में बडी सफलता पाई है। गम्भीर विषयो पर विवाद करते समय भी चीनी लोगो में विनोद-वृत्ति रहती है। जिन लोगो का विश्वास है कि मृतको का अस्तित्व नही है और इसलिए उनके प्रति बलिदान समय और अन्न का अपव्यय है—उनके इस तर्क पर विचार करते हुये श्री मो-त्सू कहते है—"हम यह मान भी लें कि मृतात्माओ का अस्तित्व नही है तब भी बलिदान अपव्यय नही है। यदि मद्य तथा अन्य वस्तुएं नाली में बहा दी जायें तब तो हम उसे बेशक बरबादी कह सकते है। लेकिन वास्तव मे होता यह है कि परिवार के सदस्य और गाँव के मित्र गण सभी अपना-अपना भाग पाते है, इस-लिए इस बलिदान की प्रथा का सबसे बुरा लाभ इतना तो है ही कि हमें अपने पडोसियो से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने मे मदद मिलती है।"[१] और लीजिए, सन् २६५ ईसवी पूर्व में चिन राज्य के भूतपूर्व

[१] Waley The Way and Its Power (1936), पृष्ठ ३६।

शासक की पत्नी मृत्यु-शय्या पर थी। उसने वी राज्य के एक अजनबी से अपना गहरा सम्बन्ध बना रखा था। मरने से पहले उसने आदेश दिया कि इस अजनबी को उसकी अन्त्येष्टि के समय बलि चढा दिया जाय ताकि उसकी आत्मा उसे कब्र के बाहर रास्ता दिखा सके। वी राज्य के इस अजनबी के सामने विकट समस्या आ गई। उसकी ओर ने एक मित्र ने इस मरती हुई रानी से भेंट की। उसने कहा—"क्या आपको इस बात का विश्वास है कि मृतको को भी भाव-चेतना होती है?" "मै तो ऐसा नही सोचती।"—उसने कहा। "तो महारानी जी इससे आपका क्या लाभ हो सकता है कि जिस व्यक्ति को आपने जीवन मे प्यार किया वह आपके साथ एक ऐसी स्थिति मे—एक ऐसे राज्य में—जाय जो चेतना-शून्य हैं? और इसके विपरीत यदि मृतको मे भाव-चेतना होती है तो भूतपूर्व राजाधिराज क्रोध से पागल हो जायँगे। वह कहेगे—'यह देखो, यह रानीजी है जो महीनो से जिन्दगी और मौत के बीच झूला झूल रही थी, आज वी राज्य के इस पुरुष के साथ पधार रही है। निश्चय ही यह इतना बीमार नही रही जितना इन्होंने अपनी जनता को समझा रखा था'।" रानी ने कहा—"बिलकुल ठीक।" और उसने अपना आदेश वापस ले लिया।[1]

कवि पो चुई ने लाओ त्सू के सम्बन्ध में लिखा है —

"जो है मुखर, मूढ है वे जन
ज्ञानी मौन बना रहता है।
मुझे बताया है लोगो ने—
ऊपर के ये शब्द कहे थे लाओ त्सू ने।

[1] Waley The Way and Its Power (1936), पृष्ठ ४०।

अब यदि यह विश्वास करें हम--
वह—लाओ त्सू ज्ञान-महिम थे,
तो यह कैसे हुआ कि वे फिर
एक महान् ग्रन्थ लिख बैठे
जिसमें पाँच सहस्र शब्द है? "[1]

चीन के विभिन्न मतो में बहुत कम उद्दडता या आत्म-प्रसार की भावना है। सन् १९१५–१९१६ में चीन गणतत्र के सविधान में एक ऐसी धारा जोडने का प्रयत्न किया गया जिसके द्वारा कन्फ्यूशियन सिद्धान्त को चीन के प्रधान तात्त्विक नैतिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा रहा था, इस धारा को युवान शी-काई का समर्थन भी प्राप्त हो गया था, लेकिन चीन के नये नेताओ ने इस धारा के स्वीकार किये जाने का डटकर विरोध किया और अन्त में यह धारा सविधान से हटा दी गई। इस धारा की स्वीकृति के विरोध में लाये गये तर्कों को श्री चेन तू-श्यू ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"शासन और शिक्षा के साधनरूप में सभी धर्म व्यर्थ है। इन्हे अतीत युग के अन्य उच्छिष्ट आदर्शों के समान समझना होगा। यदि हम यह भी मान लें कि अशिक्षित लोगो के लिए एक धर्म की आवश्यकता हो सकती है तो अन्य धर्मों की शिक्षाओ की उपेक्षा करना कहाँ तक उचित हो सकता है? यदि हम अन्य धर्मों की उपेक्षा करते है और कन्फ्यूशियस धर्म को ही सविधान में स्वीकृति देते है तो हम जनता की धार्मिक स्वाधीनता पर आघात करने के दोषी होते है।"[2]

---

[1] Waley A Hundred and Seventy Chinese Poems, E T (1923), पृष्ठ १६६।

[2] He Shih The Chinese Renaissance (1934), पृष्ठ ९०।

यह सत्य है कि चीन में कोई गम्भीर धार्मिक पीडन और उपद्रव नही हुये, पर इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि चीन के लोगो मे धर्म-भावना में कमी है। विदेशो के चीन जानेवाले यात्रियो को मैने अक्सर यह कहते सुना है कि चीन के लोग धर्म में बहुत रुचि नही रखते, कि वहाँ के विद्वान् लोग सशयात्मा, अनास्थावान् और अनीश्वरवादी तथा नास्तिक भी है और नई पौध तो धर्म-विरोधी भी हैं। कुछ चीनी तो इस बात पर गर्व भी करते है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त स्थिर करना मेरा काम नही है, लेकिन हमे यह याद रखना चाहिए कि प्रारम्भकाल में भी चीन के लोगो का धर्म बहुत सरल धर्म था। उस धर्म में अपने पूर्वजो की पूजा, नैसर्गिक शक्तियो और आत्माओ पर विश्वास, परमेश्वर या स्वर्ग की पूजा और दैवज्ञता या शकुन-परीक्षण का अभ्यास भी शामिल था। पुराण और कर्मकाड तो बहुत कम थे।

विश्वविद्यालयो और अन्य शिक्षा-सस्थाओ में अनेक विद्यार्थियो और अध्यापको से मै मिला और मुझे ऐसा तो कुछ न लगा कि चीन के नवयुवको और नवयुवतियो मे धर्म के सम्बन्ध में कोई विशेष बात है। समूचे ससार में धार्मिक जीवन का एक नया स्वरूप प्रतिष्ठित होगा, अपेक्षाकृत एक साधारण और अधिक आध्यात्मिक विश्वास। चीन अपने आपको इसके लिए तैयार कर रहा है, जैसे अन्य दूसरे राष्ट्र अपने को प्रस्तुत कर रहे है। लेकिन पूजा की जो भावना हम सबके हृदय में गहरे जमी हुई है उसको उखाड फेंकने का कोई गम्भीर प्रयास वहाँ नही हो रहा है। यह हो सकता है कि चीन के लोग चिन्तनमूलक नैतिकता की समस्याओ के प्रति और व्यक्तिगत मुक्ति के सम्बन्ध में इतने चैतन्य न हो, लेकिन इससे यह तो सिद्ध नही होता कि उनमे धार्मिक भावना नही है।

फू-तान विश्वविद्यालय में मेरे भाषण का विषय था—'क्या' धर्म अनिवार्य है?' मेरे भाषण के बाद विश्वविद्यालय के प्रधान महोदय ने, जो सभा के भी अध्यक्ष थे, मुझे बताया कि कुछ सप्ताह पहले कुछ विद्यार्थियों ने परस्पर ऐसे विषय पर एक विवाद किया था और बहुमत से यह निश्चय किया था कि सैद्धान्तिक, रूढ और मतमूलक धर्म तो अनावश्यक है, पर आध्यात्मिक जीवन के रूप में धर्म मानव-जाति के उत्थान के लिए अनिवार्य है। आज हम अपनी वैज्ञानिक सफलताओं प्राविधिक साधनों और सगठनों पर गर्व करते हैं—आज्ञाकारिता, अनुशासन, निष्ठा और बलिदान-भावना के नैतिक गुण भी हममें पर्याप्त है। सामाजिक चेतना आज से अधिक प्रबुद्ध कभी नहीं रही, शान्ति के लिए जन-आकाक्षा आज से अधिक प्रबल कभी नहीं रही, अपने पडोसी के प्रति शुद्ध भावना आज से अधिक कभी नहीं रही और फिर भी ससार शक्ति और घृणा के चगुल में पडा हुआ है। ससार आज एक चालकहीन विमान-जैसा हो रहा है। उसमें शक्ति है, गति है, वेग है और सफल-सिद्धि की सामर्थ्य है लेकिन उसने अपना लक्ष्य खो दिया है। आज हमें जिसकी आवश्यकता है वह न अधिक ज्ञान है और न अधिक सगठन, न वह अधिक अनुशासन है और न अधिक आज्ञाकारिता, बल्कि वह है धर्म की भावना, जीवन के उन परम पुरुषार्थों की स्वीकृति जिनकी सिद्धि के लिए विज्ञान और सगठन, अनुशासन और आज्ञाकारिता का प्रयोग करना है।

यह सौभाग्य की बात है कि चीन का धर्म धर्मवादी नहीं रहा। उसमें रूढ सिद्धान्तों का बोलबाला नहीं। वह एक वातावरण है, एक मनोदशा है जिसमें आध्यात्मिक जीवन की यथार्थता पर विश्वास भरा हुआ है—ऐसे आध्यात्मिक जीवन की यथार्थता पर, जो सुख और स्वार्थ या

लाभ-परक सामान्य जीवन से उच्च है। आध्यात्मिक सहनशीलता और समझौते की पृष्ठभूमि में मनोवृत्तियो और मतो के विविध रूप साथ-साथ चलते है। चीन के लोगो का दृष्टिकोण वास्तव में सौजन्यपूर्ण है। उनकी यह विशेषता उनके इस विश्वास का परिणाम है कि धर्म का सम्बन्ध तार्किक विवादो से उतना नही है जितना जीवन की सक्रिय अभिव्यक्ति से--मनसा-वाचा-कर्मणा के निर्वाह से--है। धर्म की स्थापना तर्क द्वारा नही होती, उसकी अभिव्यक्ति जीवन के माध्यम से होती है। विश्वास की प्राथमिकता को ऐसी अभिव्यक्ति, जो दार्शनिक और राह चलते सामान्य मनुष्य सबको अन्तिमरूप से आश्वस्त कर सके, कवियो, दृष्टाओ, सन्तो और रहस्यवादियो द्वारा व्यक्त की जाती है, कोई सुकरात या कोई बुद्ध, कोई यीशु या सन्तपाल सामान्य जनता के हृदय को आश्वस्त और विश्वस्त कर देता है--केवल अपनी सहज सरलता और आत्मप्रेरणा के साथ सुविधामूलक जीवन-पद्धति को अस्वीकार करके। अपने जीवन के द्वारा ऐसे लोग यह सिद्ध करते है कि उन्हे अप्राप्य ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो गया है और उस ज्ञान को व्यवहार में उतारने की अविचल शक्ति और साहस उनमें है।

चीन की जनता अधिकाशरूप मे धर्म का यह अर्थ नही मानती कि तपस्वी का-सा अनुशासन अपनाया जाय, उपवास किये जायँ और इसी प्रकार की शरीर-यातना की अन्य विधियाँ अपनाई जायँ। यदि एक धार्मिक व्यक्ति का लक्षण यह हो कि ससार की अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा वह ईश्वर से अधिक प्रेम करे, या उसके लिए अन्य सबका त्याग करे, सोचे कि जीवन की समस्त मधुरताओ का त्याग अच्छा है यदि केवल ईश्वर प्राप्त हो सके, तो चीन के लोग धार्मिक नही है। हाँ, उनके बीच भी काफी ऐसी आत्माये हो गई है जो धर्म के इस मान-दड पर

पूरी उतरती हैं, जिनमें ईश्वर की अविचल लगन है, जिन्होंने कर्म की अपेक्षा चिन्तन में ही अपनी कल्याण-भावना की है, जिन्हें एकान्त जीवन की ही कामना रही है और जिन्होंने सामाजिक पचड़े से अपनी आत्मा को मुक्त करके उसी के उत्थान की चिन्ता की। लेकिन बहुसंख्यक चीनी जनता के लिए तो धर्म का यही उद्देश्य है कि वह एक सौजन्यता, सहनशीलता और सुबुद्धि पूर्ण मनोवृत्ति का विकास करे। यदि हमारे मनोभावों और विचारों में सामंजस्य है, संहिति है तो हम प्रसन्न रहते हैं, पर यदि वे विशृंखल हैं—अव्यवस्थित है तो हम दुखी रहते हैं। आंतरिक जीवन का विकास मानव-जीवन की पूर्णता का एक तात्त्विक अंग है। जो योगियों का जीवन बिताते हैं उनमें भी हमें वह गुरु गम्भीर रूढ़ता और कट्टरता नहीं मिलती, जो धार्मिक मतान्धों में मिलती है।

चीन और भारत में धर्म जीवन और अनुभव की वस्तु है, न कि मत और मतांधता की। मनुष्य के अंतरतम में निहित जो 'स्व' है उसके साथ जिस निगूढ़ सत्ता की एकता है उसी का साक्षात् धर्म का उद्देश्य है। ईश्वर का राज्य—ब्रह्म-लोक—तुम्हारे भीतर ही है—तत्त्वमसि। महात्मा बुद्ध के लौकिक जीवन के अन्तिम क्षणों में आनन्द ने जब उनसे उपदेश की प्रार्थना की तो उन्होंने कहा कि उदारतापूर्वक वे सब कुछ सिखा चुके हैं, गुप्त कुछ भी नहीं रखा, केवल इतना कहना शेष है कि उनकी शिक्षा का सत्यार्थ ही विश्वासी के जीवन का अंग बने। हमें अपनी निगूढ़ आत्मा को ही अपना प्रदीप और अपना शरणाश्रय बनाना है, हमें सत्य-नेत्र—आत्मज्योति—प्राप्त करनी है। प्रसिद्ध भारतीय मनीषी बोधि धर्म ने सिखाया है कि धार्मिक गुण न पुस्तक-ज्ञान है और न सत्कर्म, बल्कि धार्मिक गुण है अन्तर्ज्ञान और अन्तर्ज्योति जो चिन्तन से प्राप्त होती है। जीवन का एकान्त सत्य है बुद्ध-वृत्ति—, धर्म-काया जो प्रत्येक

व्यक्ति मे हृदयस्थ है। आठवी शती के एक धार्मिक लेखक श्री लू येन (Lu Yen) ने लिखा है—"जब कन्फ्यूशियस कहते है कि ज्ञान व्यक्ति को लक्ष्य-प्राप्ति कराता है, या जब बुद्ध उसे आत्म-दृष्टि कहते हैं, या लाओ त्सू उसे अन्तर्दृष्टि, तो उन सबका अर्थ एक ही होता है।"[१] ये लोग किसी शारीरिक तत्त्व की बात नही करते जो धार्मिक वक्र-मार्गियो और तापस-योगियो तक ही सीमित रहता है। ये लोग सामान्य बौद्धिक चेतना की सीमाओ से परे चेतन-शक्ति के विकास की बात करते है। आत्मा बुद्धि की अपेक्षा विस्तृत है और जब हम बौद्धिक स्वरूपो से परे आत्मिक जीवन की गहराई में धँसते है तो हमें आत्मा की स्थिति का बोध होता है और उसकी आकाक्षा उत्पन्न होती है।

धर्म-दृष्टि आत्मा की अनुभूति है और शिक्षा उस अनुभूति की तैयारी। आत्मा की मुक्ति केवल बौद्धिक सकल्प से ही नही सिद्ध होती। इसके लिए एक व्यापक और सम्यक् नैतिक प्रक्रिया, स्वभाव का एक गम्भीर परिवर्तन, काम और अह-भाव की पूर्ण विजय आवश्यक होती है। बौद्धिक तर्काडम्बर—वह चाहे जितनी मात्रा मे हो—हमे माया के बन्धन से मुक्त नही कर सकता। ऊर्ध्व चेतना का विकास दैवी वरदान की अपेक्षा व्यक्तिगत प्रयास का फल अधिक है। ईश्वर व्यक्ति वाह्य नही है, वह उसके भीतर ही है और यदि बाधक आवरण दूर कर दिये जायँ तो वह अपने को व्यक्त और प्रकाशित करने के लिए प्रस्तुत है। आत्म-शुद्धि के लिए बलिदानो को भी एक साधनरूप

---

१ Wilhelm The Secret of the Golden Flower, E T (1935), पृष्ठ ३७

में स्वीकार किया गया था। इस बात पर जोर दिया जाता है कि वाह्य क्रियाकलापों को शान्त किया जाय, आत्मा पर के आवरण हटाये जायँ, चेतना के क्रमिक स्तरों को पार करते हुए तब तक आगे बढा जाय जब तक शुद्ध आत्मा तक पहुँच न हो जाय जो हमारे भीतर ही है। इसलिए मुक्तात्माओं के लिए मत और कर्म-काड बधन हैं जिन्हें तोडना होता है। जिन मूर्तियों को हम पूजते हैं वे भी उस सत्ता के काल्पनिक प्रतीक हैं जिसका न तो पर्याप्त चित्रण हो सकता है और न वर्णन :—

"वे सब तेरी खड ज्योति हैं,
खड ज्योति, बस, और नहीं कुछ !
और देव ! तू उन सबसे ही
अतिमहान् है।"

धार्मिक मत तो आत्मानुभूति के साधनरूप में ही अपना महत्त्व रखते हैं और केवल मूढ लोग ही उनके सम्बन्ध में कलह मचाते हैं। बोधि धर्म ने ध्यान-योग की शिक्षा दी थी, चीन में उसे 'चान' कहते हैं (जो सस्कृत के 'ध्यान' से बना है) और जापान में उसे जेन मत कहते हैं। इन बोधि धर्म के दो प्रधान चीनी शिष्य थे—हुई-सी और ची काई। श्री ची-काई ने अपने गुरु से भी आगे बढकर एक नवीन पद्धति स्थापित की जिसमें उन्होंने महात्मा बुद्ध के उपदेशों के वाह्य विरोधों में सगति बैठाई। उन्होंने कहा—"मानव-परिस्थितियों की विषमता अत्यधिक है, दार्शनिक सिद्धान्त अनेक हैं, लेकिन लक्ष्य एक है। यह लक्ष्य है बुराई—असत् पर विजय, परम सत्य और शिव की सिद्धि। इसका कोई महत्त्व नहीं कि कौन किस मार्ग से इस लक्ष्य तक पहुँचता है, लक्ष्य-

प्राप्ति ही पर्याप्त है। जो लोग इस तथ्य को नही समझते वे ही विभिन्न मतो के उपदेशो की तुलना करते है और उन पर विवाद करते है, जो इस तथ्य को समझ जाते है वे सब मतो को स्वीकार कर लेते है और सबको पचा लेते है।" चीन और जापान के बौद्ध हीनयान और महायान मतो के ग्रन्थो का अध्ययन करते है और उनके महत्त्व को अंगीकार करते है, इस रूप में कि वे पृथक्-पृथक् मनोवृत्तियो के लोगो के अनुकूल है और आत्मिक जीवन बिताने के एक सामान्य लक्ष्य तक व्यक्ति को पहुँचा देते है। किसी व्यक्ति की धार्मिकता की परख उसकी नैतिक और धार्मिक मान्यताओ की अपेक्षा उसकी आत्मिक सिद्धियो से अधिक की जानी चाहिए। मानव-जाति के अनुभव का एक व्यापक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति मतान्ध बने बिना भी जीवन में एक धार्मिक उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है। कोई जरूरी नही है कि हम किसी खास मत को स्वीकार करें ही, इतना ही पर्याप्त है कि हम जीवित रहें। "जिन्होने अपने जीवन को आत्मा की अमर वाणी के अनुरूप ढाला है वे ईसाई ही है, भले ही हम उन्हे अधार्मिक अविश्वासी कहें"—यह जस्टिन मार्टियर का कथन है।'

चीन की जनता कन्फ्यूशियन मत, ताओ मत और बौद्ध मत में कोई प्रतियोगिता नही मानती। वह इन सबको एक-दूसरे का पूरक मानती है। चीन के आध्यात्मिक समन्वयमूलक वातावरण में ये तीनो मत एक-दूसरे से मिल गये और अपने पृथक् पृथक् प्रभावो से उन्होने जनता की सामाजिक, रहस्यात्मक और नैतिक आवश्यकताओ को पूरा किया। कन्फ्यूशियन मत ने कर्म-योग पर जोर दिया, ताओ मत ने रहस्यात्मक या ज्ञान-पक्ष पर जोर दिया और बौद्ध मत ने जनता को एक दर्शन और आचार-शास्त्र दिया जिसने धर्म के इन दोनो पक्षो

को समुचित ढग से सम्पन्न कर दिया।[1] चूंकि लोग विभिन्न विचारो और वृत्तियो के होते है, इसलिए सम्भव है कि वे चीन के धर्म के एक या दूसरे पक्ष पर अधिक जोर दें जो कि वास्तव में इन तीनो मतो का समन्वय है।[2]

---

[1] 'सामान्य जनता के बीच ये तीनो धर्म एक-दूसरे का पारस्परिक वहिष्कार नही करते। कन्फ्यूशियन मत मे एक शान्त विरक्ति से आगे बढकर मानव-प्रकृति की आध्यात्मिक अपेक्षाओ की पूर्ति का कोई प्रयत्न नही किया गया। इस कमी को वौद्ध धर्म के आध्यात्मिक पक्ष ने पूरा कर दिया है। मृत्यु के बाद आत्मा की अविच्छिन्न सत्ता के सम्बन्ध में कन्फ्यूशियस के अनिश्चय का ताओ मत के निश्चित अमरतावाले सिद्धान्त ने दूर कर दिया। इस प्रकार तीनो मत एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक है और तीनो मिलकर मनुष्य की आवश्यकताओ को सम्यक् रूप से पूरा करते है, जब कि अलग अलग प्रत्येक ऐसा नही कर पाता। परिणाम यह हुआ है कि जन-जीवन में तीनो के बीच विभद की कोई रेखा ही नही रह गई। सामान्यरूप से हम यह कह सकते है कि तीनो मतो के पवित्र तीर्थ-स्थान सबके लिए खुले है और सब उनसे लाभ उठाते है।"—The Three Religions of China, by Soothill (1929), पृष्ठ १२-१३।

[2] "हम देखते है कि कन्फ्यूशियन मत, बौद्ध मत और ताओ मत तीनो को राज स्वीकृति प्राप्त रही थी, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सम्राट् से लेकर छोटे छोटे अधिकारी तक तीनो ही धर्मों के पवित्र स्थानो में पूजा करते थे। सम्राट और अधिकारीगण देव-स्थानो में पूजा करते थे और उनकी सहायता के लिए दान देते थे, ये देव-स्थान चाहे कन्फ्यूशियन मत के हो, चाहे बौद्ध मत के और चाहे ताओ मत के। राष्ट्र के धार्मिक जीवन को स्थिर बनाये रखना उनका कर्तव्य था और वे इसे इस कर्तव्य-पूर्ति का अग समझते थे।"—(Ibid, पृष्ठ २२८) और भी 'तथ्य यह है कि इन तीनो धर्मों के प्रधान सिद्धान्त और मत एक-दूसरे के इतने निकट आ गये है कि वे जनता के चरित्र और उसकी वृद्धि में अविभाज्यरूप से समा गये है।"—(Ibid, पृष्ठ २४६)।

एक बडे भारी दार्शनिक, जो मो-त्सू के अनुयायी है, कन्फ्यूशियन आदर्श की अपेक्षा बौद्ध आदर्श को अधिक पसन्द करते है। वे कहते है — "आओ इन तीनो मता द्वारा स्थापित और प्रदत्त परम्पराओ पर विचार करें और विद्वद्वर्ग की सैद्धान्तिक क्रियाओ को भी समझें, •• उदारता, न्याय और पवित्रता को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है एक सामान्य विद्वज्जन की यही आचार पद्धति है लेकिन जिन लोगो ने अनासक्ति को व्यवहारत अपनाया है वे लोग इसे पसन्द नही करते। श्रमण लोग 'मध्यमा प्रतिपदा' और 'विभूति' को अपनाते है और इनके लिए सासारिक सुखो को तिलाजलि देते है। वे पवित्रता और विवेक की काक्षा करते है और पारिवारिक जीवन के सुखो से अपने को बचाते है। इससे अधिक आश्चर्यमय और क्या बात हो सकती है!" सम्राट् काग-सी ने पूटो के श्रमणो के नाम एक आज्ञा प्रसारित की थी—"अपन बचपन से ही हम कन्फ्यूशियन मत के श्रद्धालु विद्यार्थी रहे है और इस बात का हमे समय ही नही मिला कि बौद्ध धर्म के पवित्र ग्रथो का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करें लेकिन हमें यह जानकर सतोष हुआ है कि इन दोनो ही मतो में 'विभूति' एक सामान्य गुण है जो तात्त्विकरूप से अगीकार किया गया है। तो हम कृपालु कुआन-यिन (बोधिसत्त्व) से प्रार्थना करें कि वह हमारी जनता पर अपनी कृपा से आध्यात्मिकता का जल और 'मगल धर्म' की ओस बरसायें, जनता को प्रचुर अन्न, ऋतु-अनुकूल वायु, शान्ति, सौख्य और दीर्घ जीवन के वरदान दें और अनत उन्हे मुक्ति का मार्ग दिखाये जिसका द्वार उन्होने विश्व के समस्त जीवो के लिए खोल रखा है।"[१]

---

[१] Johnston Buddhist China, पृष्ठ ३५२

चीनी लोगो में भावना की एक ऐसी कोमलता है जो उन्हें आध्यात्मिक विषयो पर तर्क या विवाद करने के लिए अनुत्साहित करती है। आध्यात्मिक विषयो के प्रति उनके हृदयो में एक श्रद्धा-भावना है और इसलिए वे सभी धार्मिक कृत्यो और विश्वासो के प्रति एक तटस्थ, पर श्रद्धापूर्ण, दृष्टिकोण, रखते है। चाहे बुद्ध के सम्मान में हो और चाहे कन्फ्यूशियस के सम्मान में, वे शालीनता और मर्यादा के साथ धार्मिक कृत्यो मे सम्मिलित होते है। जैसे अनेक हिन्दू मदिरो में जाते है, वे मदिर चाहे शैव हो चाहे वैष्णव, वैसे ही अनेक चीनी ताओ और बौद्ध मदिरो में उपासना करते है। अपनी आवश्यकताओ के अनुकूल वे कन्फ्यूशियन, ताओ और बौद्ध प्रतिष्ठानो से लाभ उठाते है। एक ही दिन और एक ही उद्देश्य से वे विभिन्न पूजा-स्थानो को जाते है , जैसे हम अपनी बीमारी में होमियोपैथ, एलोपैथ अथवा आयुर्वेदिक या यूनानी चिकित्सको के पास जाते है। हम अपने विवेक का प्रयोग कर सकते है और परिस्थितियो के अनुसार जिसको चाहें उसको चुन सकते है। प्राय यह कहा जाता है कि चीन के लोग तीन धर्मवाले हैं, कन्फ्यूशियन, बौद्ध और ताओ, और यह कथन बिलकुल गलत भी नही है। जनता की भाषा में तीनो मतो की बात चलती है और एक सामान्य व्यक्ति अपने जीवन मे ऐसे धार्मिक कृत्यो में भाग लेता है जिनमें तीनो ही मतो में विश्वास निहित रहता है। वास्तव में यह मिश्रण इतना पूर्ण हो गया है कि हम पूर्ण औचित्य के साथ एक चीनी धर्म की बात कर सकते है, ऐसा चीनी धर्म जिसका अर्थ है सामान्य जनता द्वारा स्वीकृत विश्वासो और धार्मिक कृत्यो का सगठन। फिर भी इस धर्म के प्रति आस्थावान् रहते हुए भी यह सम्भव है कि व्यक्ति इन तीनो मे से किसी एक के प्रति उत्साह वृत्ति रखे और फिर

भी लोग उसे मतवादी न कहे।"[1]

चीन में हम ईसाइयो और मुसलमानो की सख्या तो गिन सकते है लेकिन बौद्धो की नही। ईसाइयो और मुसलमानो के मत निश्चित और अन्य-बहिष्कारमूलक है, लेकिन बौद्ध धर्म ने तो जनता के समूचे जीवन पर, कला और साहित्य पर अपना प्रभाव डाला है। कर्म अथवा पुनर्जन्म सम्बन्धी विचार और बौद्ध धर्म के नैतिक उपदेश चीनी लोगो के मानसिक जीवन में घुल-मिल कर तद्रूप हो गये है। बहिष्कारमूलक मुक्ति-साधनो और अपने मतो की परमता या श्रेष्ठता पर जोर देनेवाले सेमिटिक या सामी धर्मों के प्रवेश ने चीन के शान्तिपूर्ण धार्मिक जीवन में कुछ गडबडी उत्पन्न कर दी है। लेकिन चीन की भावना शक्ति को ये भी डिगा नही सके। चीन में ईसाई-धर्म के कुछ नेताओ से मैंने पूछा कि क्या इनको पुनरावृत्ति न हो सके ऐसी अप्रतिमता और एकान्त श्रेष्ठता पर विश्वास है, और उनके उत्तरो से मुझे मालूम हुआ कि यद्यपि उन्हें ऐसे सिद्धान्त सिखाये गये है लेकिन चीन के वातावरण में वे इन सिद्धान्तो पर जोर देने के इच्छुक नही है। चीनी जनता की मनोवृत्ति विभिन्न मतो पर विश्वास रखनेवाले लोगो के लिए एक-दूसरे से मिलना, परस्पर एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझना और इस प्रकार विकास करना सम्भव बनाती है। जब तक हम ससार के बडे-बडे बौद्धिक केन्द्रो में ऐसा करने में समर्थ नही होते तब तक वह पारस्परिक सम्मान और ज्ञान नही पनप सकता जो उस सामान्य मानवता और सभ्यता की सम्यक् अवधारणा के लिए अनिवार्य है जिसके विकास में अनेक जातियो

---

[1] Eliot Hinduism and Buddhism, Vol III (1921), पृष्ठ २२६।

और सम्प्रदायों ने अपना योग दिया है। मनुष्यों में अन्तर केवल उनके बाह्य रूपों में है। प्रत्येक मत का विश्वासी उसी आकांक्षा को व्यक्त करता है जो हमें अपने अन्तर्यामी ब्रह्म की सत्ता से प्राप्त होती है। ईसाई देश ब्रिटेन की धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में प्रोफेसर गिलबर्ट मरे ने लिखा है—"एक बुद्धिवादी के लिए ... यह शुद्ध बर्बरता है कि नवजवान लोगों को एक ऐसी सैद्धान्तिक शिक्षा दी जाय कि वे एक ऐसे मानवरूप में व्यक्त परमात्मा पर विश्वास करें जो 'मनुष्य को अपनी ही आकृति में ढालता है' और यहाँ तक कि एक मर्त्य कुमारी से एक पुत्र 'उत्पन्न' करता है। ऐसे विचार भूमध्यसागरीय जातियों के शैशवकाल के हैं। और भी, नैतिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से यह एक अत्यन्त दुःख की और भयावनी बात है कि बच्चों को यह पढ़ाया जाय कि जो लोग इन बातों पर विश्वास नहीं करते वे या तो अनन्त काल तक के लिए अभिशप्त हैं, जैसा कि कुछ कट्टर ईसाई मत मानते हैं, और या फिर कम-से-कम भद्र नागरिक बनने में असमर्थ हैं, जैसा कि बी० बी० सी० के कुछ नैतिक वक्ताओं ने हाल में कहा है।"[1] ताओ और बौद्ध मतों को न माननेवाले लोगों की दृष्टि में परम सत्ता अनवधार्य है और मानव भाषा में उसकी प्रकृति की परिभाषा नहीं दी जा सकती, केवल पौराणिक कल्पनाओं और मूर्तियों द्वारा उसका संकेतमात्र किया जा सकता है। महान् ईसाई रहस्यवादी भी ऐसा ही मानते हैं। ईश्वर को पिता कहकर पुकारना या उसे 'तत्त्वान्तर मित्र' अथवा 'त्राता' बताना एक तथ्य-निवेदन की अपेक्षा रूपक ही अधिक माना जा सकता है। पुराण कल्पनाएँ और रूपक ही ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य

[1] The Rationalist Annual (1944), पृष्ठ ४।

की सीमित वुद्धि अव्यक्त और अनिर्वचनीय को व्यक्त करती है। सेमिटिक या सामी धर्मों को भी यह विचार स्वीकार करना होगा। अपने धर्म पर अविश्वास करनेवाले को निंद्य और अभिशप्त बतानेवाला सिद्धान्त उन्हें छोडना होगा क्योकि वह भद्र जीवन का सहायक नही बल्कि बाधक है, इस दृष्टि से कि उससे घृणा और मतान्धता को प्रसार मिलता है।

सहिष्णुता की भावना एक घटना से लक्षित होती है जिसका वर्णन कुमारी ब्रेन्डन ने किया है।[१] फा युआन सू के मठाधीश से उन्होने पूछा कि मन्दिर की वेदी के ऊपर उन योरोपीय सिपाहियो के नामो की पट्टिकायें क्यो लगी है जो महायुद्ध में मारे गये हैं। उनका प्रश्न था—"क्या आप यह नही अनुभव करते कि इनमे कोई भी सिपाही बौद्ध नही है?" "हाँ, मालूम है।"—उन्होने उत्तर दिया, "लेकिन क्या उनके बलिदान की प्रशसा हमें न करनी चाहिए, और क्या सभी धर्म इस बात में एक-से नही है कि सभी जीवो का कल्याण उनका उद्देश्य है? अपने ईसाई गिरजाघरो मे क्या आप लोग सबकी मुक्ति के लिए प्रार्थना नही करते? और क्या आपको उस (प्रार्थना) पर विश्वास नही है?" इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर देने में कुमारी ब्रेन्डन को सकोच हुआ।

व्यवहार के क्षेत्र में प्राय सभी चीनी लोग कन्फ्यूशियन आदर्शो को स्वीकार करते है उनके धार्मिक विश्वास चाहे जो हो। पितृ-भक्ति और इतिहास की सबल अनुभूति[२] चीन की सस्कृति-निर्मात्री शक्तियाँ

---

[१] Peking (1929) पृष्ठ २११। quoted in Pratt The Pilgrimage of Buddhism, पृष्ट ३९५।

[२] "हमसे पहिले हमारे पूर्वज जिन स्थानो मे एकत्र होते रहे हैं, उन स्थानो में एकत्रित होना, जो कर्मकाण्ड हमारे पूर्वज करते रहे है,

है। चीन के लोग धरती पर परमात्मा का राज्य निर्मित करने में तत्पर रहते है। धर्म के उस स्वरूप से वे अधिक प्रभावित और सम्बन्धित है जो जीवन का पुनर्निर्माण करता है और उस गुण या स्वरूप से कम जो जीवन से परे है। यह स्वीकार किया जाता है कि जीवन में तटस्थ वृत्ति या निवृत्ति का विकास स्वाभाविक प्रेरणाओ की पूर्ति करने से होता है। प्रतर्ज्ञान प्राप्त करने की शर्त है इच्छाओ, कांक्षाओ और आवेगो से मुक्ति। ये ही हमें दृश्य जगत् से जकडे रहते है। लेकिन यह मुक्ति सहज वृत्तियो की भूख मिटाने से होती है, उस भूख के अकाल कुठित किये जाने से नही। यदि आत्मा के सत्य से साक्षात् करना है तो हमें धरती के विधानो का पालन करना होगा।' धार्मिक व्यक्ति का यह कर्तव्य नही है कि वह मानव-जाति के सामाजिक यातना और कष्ट-पूर्ण दृश्यो से दूर भागे, उसका कर्तव्य है ससार का

उन्हें करना, जो सगीत वे लोग सुनते और गाते रहे है वही सगीत गाना और सुनना, जिनका वे सम्मान करते थे उनका सम्मान करना, जो उन्हें प्रिय थे, उन्हें प्यार करना, वास्तव में जो दिवगत हो चुके, उनकी सेवा ऐसे करना मानो वे हमारे साथ जीवित हो—यही सच्ची पितृ-भक्ति और पवित्रता की परम सफलता है।" (देखिये Analects) जब महान् पूर्वज धरती पर शासन करते थे तब कही गृह कलह न थी। पूर्वज ती (Ti) विश्व का शासक है और चीन के सभी मतो, सम्प्रदायो का विश्वास है कि उन्होने उस धर्म-सिद्धान्त 'ताओ' (Tao) को फिर से खोज निकाला है जिसके अनुसार पूर्वज धरती पर शासन करते थे। चीनी लोग अपने नीति शास्त्रो और सम्प्रदायो का निर्माण करते है और हरएक इस बात का दावा करता है कि उसे वह गुप्त कौशल प्राप्त हो गया है जिसके द्वारा पूर्वज लोग अतीत काल में लोगो के जीवन का नियमन करते थे।

परित्राण करना। कनफ्यूशियस से पहले धार्मिक क्रिया काण्ठा का प्रधान उद्देश्य था समाज के भौतिक कल्याण को सिद्धि, और राजनीतिक, सामाजिक तथा नैतिक क्षेत्र में चीनी जाति की विचारधारा की गति-विधि इसी से परिचालित हुई है। स्वभावत कनफ्यूशियस के उपदेश भी इसी वातावरण और तथ्य से प्रभावित और सीमित रहे। सामाजिक मान-महत्त्वो में दीक्षित व्यक्तियो से निर्मित एक सुन्यवस्थित समाज ही उनका आदर्श था। समाज की स्थिरता और उसका स्थायित्व तभी सम्भव है जब उसकी नीव नैतिक सिद्धान्तो पर डाली गई हो। सामाजिक स्थायित्व और शान्ति पर इतना अधिक जोर दिया गया है कि व्यक्तिगत सदाचार को भी उससे कम महत्त्वपूर्ण मान लिया गया है।[1]

एक धार्मिक व्यक्ति ही सामाजिक प्रयासो और सस्थाओ को दैवी काक्षाओ का फल मान सकता है। कन्फ्यूशियस ने उन लोगो के प्रति कुछ तीखे शब्द कहे है जो समाज से ऊबकर और निराश होकर उससे बाहर निकल जाना चाहते है। "चिडियो और जानवरो से मैं अपना सामाजिक सम्बन्ध नही जोड सकता और यदि मानव-जाति से मै अपना नाता नही जोड सकता तो फिर और किसके साथ जोडूंगा।

---

[1] शी के ड्यूक ने कन्फ्यूशियस से कहा था—"मेरे प्रदेश में एक ऐसा दृढ चरित्र व्यक्ति है कि जब उसके पिता ने एक भेड चुराई तो उसने उस चोरी का सबूत दिया।" कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया "मै जहाँ का रहनेवाला हूँ वहाँ चरित्र की दृढता के सम्बन्ध में लोगो की धारणा दूसरी है। वहाँ पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है और पुत्र अपने पिता की।" पुत्र और पिता के बीच जो तात्त्विक सम्बन्ध है वह व्यक्तिगत पवित्रता की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

और यदि ससार मे सद्विवान का ही वोलवाला हो तो फिर मुझे उसके सुधार मे भाग लेने की आवश्यकता ही न रहे।" यदि समाज मे अव्यवस्था है तो वुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है कि उस अव्यवस्था का कारण खोजे और सामान्य जनता को उससे वाहर निकाले। हम आज एक नये विश्व की रचना करना चाहते है, और नवीन समाज की रचना हम तव तक नही कर सकते जव तक स्वय अपना नवीन सस्कार न कर लें।

चीन के चतुर्धर्म-प्रतिष्ठान (Association of the Four Faiths---वौद्ध, मुसलमान, प्रोटेस्टैन्ट और कैथोलिक) की एक सभा मे व्याख्यान देने का मुझे एक सुअवसर मिला था,[१] वहाँ मैने देखा कि विभिन्न विश्वासो या मतो के माननेवालो ने इस वात पर वहुत अधिक जोर दिया कि आज हमें विभिन्न मतो की मैत्री उतनी आवश्यक नही है जितनी मतानुयायियो---व्यक्तियो की मैत्री, जो यह अनुभव करें कि विश्व की नैतिक व्यवस्था कायम रखने के लिए आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता है। यह प्रतिष्ठान ईसाई-मतो या वौद्ध मतो में एकता स्थापित करने तक ही सीमित नही है वल्कि सभी धर्मों को माननेवाले नर-नारियो को यह मनुष्य के आध्यात्मिक परित्राण के महान् अभियान में भागीदार वनने को प्रेरित करता है। इस प्रतिष्ठान में लोग अपने-अपने धर्मो या मतो का मण्डन और अन्य मतो का खण्डन नही करते---अपने मत को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने की कोशिश नही करते। यदि हम धार्मिक श्रेष्ठता और अप्रतिमता पर उसी तरह जोर देने लगें जैसे राष्ट्रीय प्रभु-सत्ता पर जोर देते है तो मानव-

---

[१] परिशिष्ठ ४

मैत्री का मार्ग अत्यन्त दीर्घ और दुर्वह हो जायगा। "किसी भी देश में ईश्वर साक्ष्य-हीन नही रहा" और सभी धर्मो को एक परम आध्यात्मिक सत्ता और शक्ति पर विश्वास है। सर्वेश की सामान्य उपासना में ही विश्व-बन्धुत्व या विश्व-मैत्री की सम्भावना है। सभी धर्मानुयायियो में एक आन्तरिक एकता है। धर्मानुयायियो को जो चीजें विभक्त करती हैं वे उन चीजो की अपेक्षा बहुत कम तात्त्विक है जो उनमें एकता स्थापित करती है। हम मनुष्यो में से अधिकाश ईसाई या यहूदी, हिन्दू या मुसलमान है, इसलिये नही कि हम सबने सोच-समझ कर इन धर्मों को अगीकार किया है, बल्कि इसलिए कि हम इन्ही में उत्पन्न हुये थे। चीनी चतुर्धर्म-प्रतिष्ठान की इस बैठक में सभी धर्मो के अनुयायियो--ईश्वर पर विश्वास रखनेवालो—से इस बात का आग्रह किया गया था कि वे भाईचारे की प्रेमपूर्ण भावना के आधार पर ससार के सुधार के सामान्य अभियान में लग जायँ। उन सबका विश्वास है कि युद्ध मानव-जाति के विरुद्ध एक पाप है और यह विश्वासी धर्मानुयायियो का कर्तव्य है कि वे मानव-जीवन के रक्त प्रवाह से घृणा के आवेग को निकाल बाहर करें। केवल वैज्ञानिको, वकीलो, अर्थ-शास्त्रियो और राष्ट्र नियामको की अन्तर्राष्ट्रीय बैठकें ही पर्याप्त नही हैं। ईश्वर पर विश्वास रखनेवालो का यह कर्तव्य है कि वे समस्त जातियो के मानव-समुदाय में सद्भावना और सौहार्द्य स्थापित करे। ससार को आत्म-शक्ति की आवश्यकता है, उस स्वार्थपरता को नष्ट करने के लिए जिसके वश होकर राष्ट्र-नियामक सार्वजनिक कल्याण की अपेक्षा अपने विशिष्ट स्वार्थो को अधिक महत्त्व देते है। यदि हममें एक आध्यात्मिक महत्त्वाकाक्षा न हुई तो सामाजिक जीवन के सहस्राब्द भी निष्फल ही सिद्ध होगे। वर्तमान सुख-सुविधा और शारीरिक मृत्यु से हम सन्तुष्ट

नही हो सकते। 'नवजीवन' के आन्दोलन को अपनी स्थिरता के लिए एक आध्यात्मिक विश्वास की अपेक्षा होगी।

जनता

चीन का ज्ञात इतिहास तीम शताब्दियो से अधिक का है। इस इतिहास ने चीन को राजनीतिक एकता भले हा न दो हो, पर सास्कृतिक अविच्छिन्नता अवश्य दी है। भौगोलिक कारणा और सामाजिक स्वरूपो ने चीन को एक निश्चित जीवन दशन दिया है—एक स्पष्ट और विशिष्ट सास्कृतिक स्वरूप, जो समाज के सभी वर्गों के जोवन में गहरे वैठ गया है। एक पुरानी चोनी कहावत है—"अपना कर्तव्य करो, अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहो, प्रकृति का अनुमरण करा और ऊपरवाले पर विश्वाम रखो।" प्रकृति से सामजस्य में रहना चीनी विवेक का सार-तत्त्व है। चीनी लोगों को सरलता और सुख-सुविधा पसन्द है। वे लोग मनुष्यतापूर्ण और सहिष्णु है। परिश्रम और चिन्ता से दब होने पर भी वे प्रसन्न रहते है। आज उनके जीवन पर एक गहरी और व्यापक काली छाया फैल रही है। युद्ध और तज्जनित विपन्नता ने उनसे उनका आनन्द और उनकी स्वाधीनता छीन ली है, लेकिन फिर भी शायद ही कही दु खी चेहरा दिखाई देता है। अन्य लोगो की अपेक्षा वे लोग अपनी कठिनाइयो और आपदाओ को अधिक प्रकृतिस्थ रहकर अधिक सरलता से झेलते है। उनका दृष्टिकोण अध्यात्म-विद्या-परक नही है और इसलिए उनकी बुद्धि सैद्धान्तिक कट्टरता से मुक्त है। वे लोग वस्तुवादी दृष्टिकोण के है। वे हर वात को लेकर सिद्धान्त-स्थापन नही करते वल्कि परिस्थिति की कठार वास्तविकता का उत्तर देते है।

एकता स्थापित करनेवाली प्रभावपूर्ण शक्तियो मे चीन की लिपि भी एक है। चीन की विविध बोलियाँ एक ही सामान्य लिपि में लिखी जाती है। चीनी भाषा मे विचारो और वस्तुओ की अभिव्यक्ति चित्रो द्वारा की जाती है। ये चित्र समय बीतने पर अब रूढ वर्ण बन गये है, जिन्हें विचाराकार (Ideograph) कहते है। दरवाज़े पर दुर्वृत्ति से झाँकती हुई रमणी के चित्र का अर्थ है ईर्ष्या और परिवारिक सकट। बच्चे को गोद में लिए नारी आनन्द और सुख का प्रतीक है। घर में तीन औरतो के वार्तालाप के चित्र से प्रवाद की अभिव्यक्ति होती है। लगता है प्रवाद फैलाना औरतो का ठेका है। इन लिखित वर्णों का सौन्दर्य लोगो की अभिरुचि को सस्कृत बनाता है और उन्हें सौन्दर्य की अनुभावना और सृष्टि करने की प्रेरणा देता है।

चीन की सस्कृति तत्त्वत मानवतावादी है। उसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व को बहुत अधिक सम्मान दिया गया है। यदि अवसर की समानता प्रजातन्त्र की तात्त्विक विशेषता है तो चीन में सदियो से प्रजातन्त्र रहा है। वहाँ पुरोहितो या क्षत्रियो के वर्ण या जातियाँ नही है और धनी और निर्धन का भेद कभी स्थायी नही रहा है। अधिकारियो का चुनाव सार्वजनिक परीक्षाओ द्वारा निर्धारित योग्यता के आधार पर होता है।

प्रारम्भ से ही एक प्रकार की राजनीतिक एकता रही है, यद्यपि वहुत शिथिल रही है। प्रान्तो को बहुत अधिक स्वायत्तता प्राप्त रही है। उनका शासन केन्द्रीय शक्ति द्वारा नियुक्त अधिकारी करते रहे है। तातार और मचू जैसे विदेशी विजेताओ ने चीन की परम्पराओ, रीतियो, विचारो और विश्वासो को ज्यो-का-त्यो अपना लिया था।

चीन की सस्कृति नागरिक सस्कृति नही है। व्यवसाय और शोषण

की प्रेरणा से भरे नगर-राज्यो का निर्माण चीन के लोगो ने नही किया। देश की तीन-चौथाई जनता खेतो पर आश्रित रहती है। चीन की सस्कृति तत्वत एक कृषक-सस्कृति है। गोमास का निषेध है और गाय का दूध प्राय नही पिया जाता। धरती को खाद देते रहने की प्रथा से पानी दूषित हो गया, इसलिए चीन के लोगो ने उबाला हुआ पानी पीने की आदत डाल ली जिससे पानी से उत्पन्न होनेवाली बीमारियो से उनकी बहुत रक्षा होती है। उबाले हुए पानी को स्वादिष्ट बनाने के लिए चाय खोज निकाली गई। योरोप के उन्नतिशील देशो ने चीन के साथ चाय और रेशम का व्यापार आरम्भ कर दिया। चीन ने चाय, रेशम और चीनी मिट्टी के बर्तनो का निर्यात किया और बदले में अफीम पाई। चीन के लोगो ने कागज और छापे की मशीन का आविष्कार किया और चुम्बकीय दिग्दर्शक यत्र की खोज की जिससे पुनरुत्थान के प्रारम्भ में योरोप के जीवन को गति मिली। अपनी पुस्तक 'इतिहास की रूपरेखा' (Outline of History) में श्री एच० जी० वेल्स ने लिखा है कि कागज बनाने और छापेखाने के रहस्य की जो देन चीन से योरोप को मिली, उससे जो ज्ञान योरोप में विकीर्ण हुआ उसी का परिणाम है योरोपीय पुनरुत्थान।

हाल की शताब्दियो में योरोपीय सम्पर्क से चीन की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा है, उसे आर्थिक परावलम्बता और राजनीतिक दासता मिली है। महान् शक्तियो ने चीन की प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप किया है, उस पर अनेक अपमानजनक शर्तें लगाई है और इस प्रकार चीन के राष्ट्रीय जीवन की कमजोरियो को स्पष्ट कर दिया है। जिन चीनी लोगो ने पश्चिमी देशो और जापान में शिक्षा पाई थी उन्होने राष्ट्रीय एकता और देश की स्वाधीनता फिर से स्थापित करने की

कोशिश की। क्रान्ति हुई और मचू-राजवश गद्दी से उतार दिया गया। यह काम विदेशो मे शिक्षा पाये कुछ नेताओ ने किराये की फौजो की सहायता से किया। लेकिन किसी राजवश को गद्दी से हटा देना एक बात है और एक स्थायी शक्तिपूर्ण सरकार की स्थापना करना दूसरी बात है। हम यह नही कह सकते कि चीन ने यह दूसरा लक्ष्य सिद्ध कर लिया है। लोगो की आदतो को इतनी सरलता से नही बदला जा सकता जितनी सरलता से हम शासन के स्वरूप बदल सकते है। हजारो वर्षो में निर्मित हुई सस्कृति को बीसवी सदी के कुछ दशको में निर्मूल नही किया जा सकता, बन्दरगाहो और रेल तथा नवमार्गों से सम्बद्ध केन्द्रो में होनेवाले परिवर्तनो से करोडो व्यक्तियो की जीवन-प्रणाली पर कोई प्रभाव नही पड सकता। दूसरो से हम जो कुछ सीखते है वह हमारे मस्तिष्क मे आता है, पर आत्मा का स्पर्श नही कर पाता। जनता के बीच राजनीतिक चेतना अभी जग ही रही है। चीन को आधुनिक रूप देने की प्रक्रिया तो अभी चल ही रही है।

पूर्वज-पूजा को देश-भक्ति में परिणत किया जा रहा है। पितृ-भक्ति, जिसने सामन्तवाद को जीवन दिया था, अब राष्ट्रीय भावना को स्थान दे रही है। इस चेतना के विकास में जापान बहुत बडा सहयोग दे रहा है। जापान का प्रतिरोध करने में एक मनोवैज्ञानिक एकता उत्पन्न हुई है। मिल-जुल कर झेली गई मुसीबत मैत्री उत्पन्न करती है। जनता अनुभव करती है कि वह एक है, कि वह विश्व के इतिहास में अपना भाग अदा कर रही है, कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र की जलती हुई बलि-वेदी पर अपनी आहुति देकर सम्पूर्ण स्वार्थ-भावना से मुक्त और शुद्ध हो रहा है। सभी वर्गो और स्तरो के लोगो मे भाई-चारे की भावना प्रबल हो रही है। इस दृष्टि से भारत को

अपेक्षा चीन को बहुत बडी सुविधा मिली है। चीन के धार्मिक सम्प्रदाय अपने धर्मों को राजनीतिक सघर्ष में अपना अस्त्र नही बनाते। गण-राज्य ने अल्पमतो का राष्ट्रीकरण प्रारम्भ कर दिया था। मुसलमान वहाँ एक धार्मिक अल्पमत है, राष्ट्रीय अल्पमत नही। अनेक जिलो में वे स्पष्ट बहुमत में है और कुछ में उनका अनुपात दस में एक है। फिर भी सबसे पहिले और सबसे अधिक वे चीनी है। जापान के विरुद्ध युद्ध-सचालन करनेवाले कुछ सेनापति मुसलमान है।

राष्ट्रवादी और साम्यवादी दल जापान के प्रतिरोध में एक है। डाक्टर सन यात-सेन के तीसरे सिद्धान्त का स्वाभाविक विकास साम्यवाद ही जैसा कुछ है। उस सिद्धान्त का सम्बन्ध सामाजिक न्याय और आर्थिक प्रजातत्र की आवश्यकता से है। सामान्य जनता के प्रयत्न और राजकीय प्रोत्साहन द्वारा चीन के साधन-स्रोतो का विकास किये जाने पर उस सिद्धान्त में विश्वास प्रगट किया गया है। यथार्थवाद की जो भावना चीनी लोगो में पर्याप्त मात्रा में मौजूद है वही राष्ट्रवादी और साम्यवादी दलो के राजनीतिक सहयोग और समझौते में दिखाई देती है। साम्यवादी इस बात पर तुले हुए है कि चीन को साम्राज्यवादी शिकजे से मुक्त किया जाय, सभी असगत असमान सधियाँ और विदेशियो को दी गई सुविधायें समाप्त की जायें और चीन को धरती पर सेनायें रखने का जो अधिकार विदेशी व्यक्तियो को दिया गया है, समाप्त किया जाय। निस्सन्देह इसके साथ-साथ वे यह भी माँग करते है कि सामन्तवादी तत्वो को समाप्त किया जाय और युद्ध-नेताओ की शक्ति को नष्ट कर दिया जाय, और वे लोग चीन की एकता के प्रश्न पर झुकने को तैयार नही है। चीनी क्रान्ति साम्राज्यवाद-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी है। इस समय साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चा

अधिक आवश्यक और आग्रहपूर्ण है। जापान का विरोध करने में सभी दल सहमत है। साम्यवादी नेता माओ त्से-तुग कहते है—"यदि हमसे हमारा देश ही छिन जाय तो हम समाजवाद की चर्चा नहीं कर सकते।" चीन के साम्यवादी रूसी साम्यवाद के कट्टर अनुयायी नही हैं। उनका पितृ-देश चीन है, रूस नही। वे सबसे पहिले और सबसे ज्यादा राष्ट्रवादी है और जापान के विरुद्ध वे चीन का युद्ध लड रहे है, कोमिन्टर्न का नही। यद्यपि साम्यवादी चीन में प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए उत्सुक है, फिर भी वे स्वीकार करते है कि सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण समस्या है जापानी आक्रमण का प्रतिरोध। ससार के अन्य भागो के साम्यवादी विश्व-युद्ध के प्रति अपनी स्थिति और नीति के सम्बन्ध में बिलकुल स्पष्ट नही थे। जब रूस ने जर्मनी से सन्धि कर ली तो वे कहने लगे कि अब युद्ध से उनका कोई नाता नही रहा। उसे उन्होंने दो विरोधी साम्राज्यवादियो—ब्रिटेन और जर्मनी—का युद्ध कहकर टाल दिया लेकिन जब जर्मनी ने रूस पर हमला कर दिया तो उन्होंने महसूस किया कि यह तो फासिस्ट तानाशाही के विरुद्ध जनता का युद्ध था। जहाँ तक रूस की नीति मे हुए परिवर्तनो का सम्बन्ध है, वे परिवर्तन रूस के दाँव-पेचो के लिए आवश्यक थे लेकिन और देशो के लिए नही। पर चीन के साम्यवादियो ने योरोप की परिस्थितियो और सोवियत रूस की नीति में होनेवाले परिवर्तनो से मुक्त रहकर अपना उद्देश्य और अपनी नीति अपरिवर्तित रखी। समझौते की भावना सब ओर स्पष्ट दिखाई देती है। साम्यवादियो के प्रति अपने दृष्टिकोण और व्यवहार के बावजूद भी सियान (Sian) में महाबलाधिकृत च्यांगकाई शेक को इसलिए मुक्त कर दिया गया कि साम्यवादी लोग इस परिस्थिति में उन्हें ही एक ऐसा व्यक्ति स्वीकार करते है जो जापान के विरुद्ध एक

सगठित चीन का नेतृत्व कर सके। यदि उनके साथ कोई कठोर व्यवहार किया जाता तो जापानियो को यह प्रचार करने में सहायता मिलती कि वह चीन को साम्यवादी अत्याचार से मुक्त कराने आये है। यद्यपि पारिभाषिक ढग से चीन की सरकार को एकदलीय सरकार कहा जायगा, फिर भी दूसरे दलो को प्रताडित नही किया जाता और वे सरकार की नीति को प्रभावित भी करते है। इसका एक विशेष कारण यह है कि महाबलाधिकृत को अपने देश के और विदेशो के जनमत की बडी चिन्ता रहती है। वह जानते है कि देश के भीतर दलो का सघर्ष धुरी-राष्ट्रो के विरुद्ध युद्ध में देश की समूची शक्ति लगाने में बाधा डालता है और आन्तरिक अनस्थिरता तथा अविरत उत्तेजना का कारण है। मुझे इसमें सन्देह नही है कि वर्तमान सरकार अथवा साम्यवादी नेताओ की ओर से कोई ऐसा काम नही किया जायगा जिससे जापान के विरुद्ध मित्र-राष्ट्रो के मोर्चे में कोई कमजोरी आये, और युद्ध-काल में स्थापित यह सहयोग-समझौता युद्ध के उपरान्त एक प्रजातन्त्रीय राजनीतिक पद्धति में विकसित होगा।

धुरी-राष्ट्रो के विरुद्ध विश्वव्यापी मोर्चे में चीन और रूस के पारस्परिक सहयोग ने चीन में भी दोनो दलो के सहयोग में सहायता दी है और यह आशा की जाती है कि युद्धकाल में स्थापित यह समझौता युद्ध के बाद भी कायम रहेगा। ससार के अन्य भागो में यदि शाति और सुरक्षा की स्थापना करनी है तो प्रजातन्त्रवादी देशो और सोवियत रूस को मिलकर काम करना होगा। साम्यवाद के मुख्य सिद्धान्तो का प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रो द्वारा अधिकाधिक रूप में स्वीकार किया जाना सम्भव दिखाई देता है, और वे सिद्धान्त ये है कि एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण न हो और यह कि उत्पादन के

साधनो पर व्यक्तिगत स्वामित्व न रहे। डाक्टर सन यात-सेन के तीसरे सिद्धान्त--सबके लिए आजीविका—का प्रजातत्रीय उपायो से क्रियात्मक रूप दिया जाना सम्भव हो सकेगा। जनता की इच्छा या लोक-सम्मति का प्रतिनिधित्व करनेवाला एक प्रजातत्रवादी राष्ट्र युद्ध को जीत सकता है और शातिकाल में सडको और रेलो के शीघ्र प्रसार, कृषि में विज्ञान के उपयोग, सहकारिता-सगठन और उद्योगो के उत्थान की योजनायें कार्यान्वित कर सकता है। दासता और सामाजिक पीडन की जिन ज़जीरो से जनता को देश के भीतर और बाहर से जकडा गया है उनको ऐसा राष्ट्र छिन्न-भिन्न कर सकता है और विदेशी शक्तियो ने चीन के साथ जो भीषण अन्याय किये है उनसे निपट सकता है।

राष्ट्रो की परख उनके हार्दिक स्वप्नो से--उनकी कामनाओ से-- की जाती है। वर्तमान कठिनाइयाँ चीन की परीक्षा ले रही है। एकाकीपन उच्चता देता है, यातनायें शक्ति देती है बशर्ते कि हम उनसे हार न मान लें। अपनी कठिनाइयो, यातनाओ और अपनी सहनशीलता के परिणामस्वरूप चीन, जिसमे कभी भी जातीय उच्चता की भावना तथा दूसरो पर आधिपत्य जमाने की लिप्सा नही रही, एक ऐसे आधुनिक राष्ट्र के रूप में विकसित होगा जो समानता के आधार पर अन्य राष्ट्रो से सहयोग करेगा।

२

चीन और भारत[1]

चीन की सरकार के प्रति मै अत्यधिक आभारी हूँ कि उन्होने कृपापूर्वक मुझे इस देश के दर्शन करने का निमन्त्रण दिया और इस प्रकार इस देश के सास्कृतिक जीवन से कुछ परिचय प्राप्त करने और अपने दोनो देशो के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग विकसित करने का मुझे अवसर दिया। यद्यपि चीन के लोग इस समय एक जीवन-मरण के युद्ध में सलग्न है, फिर भी वे जीवन के चिरन्तन मान-महत्त्वो के प्रति उदासीन नही है—उन तत्त्वो के प्रति जिन्होने चीन के जीवन और चरित्र के निर्माण में इतना सुन्दर योग दिया है। वे तत्त्व है विद्या और ज्ञान के प्रति सम्मान और सास्कृतिक सहयोग। ईसाई सवत् के पहिले मे ही हमारे देशो के बीच विद्या और सस्कृति-सम्बन्धी विपयो का आदान-प्रदान प्रारम्भ हो गया था। इन तमाम सदियो मे हम एक-दूसरे से मित्रो और सहयोगियो के रूप में मिलते रहे है—ज्ञान की खोज और सद्‌गुणो के विकास-पथ के सहयोगी पथिको की भाँति, न कि प्रतिस्पर्द्धी और शोपको की भाँति। हमारी सभ्यतायें एक लम्बे इतिहास और अविच्छिन्न प्रवाह वाली सभ्यतायें है और उनकी एक सामान्य सास्कृतिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि है। उनमें मानव-जीवन और

---

[1] परिशिष्ठ १ देखिये।

बन्धुत्व के सामान्य आदर्श है। राजनीतिक स्तर पर हमारे पारस्परिक सम्बन्ध सुन्दर पडोसियो के सद्व्यवहार के अप्रतिम उदाहरण है। विदेशियो के प्रति रहनेवाले अविश्वास और भय से हम त्रस्त नही रहे।

पारस्परिक प्रभाव[1]

बहुत सम्भव है कि ईसा पूर्व छठी और चौथी शताब्दी के बीच, जब कि ताओ धर्म विकसित ही हो रहा था, भारतीय तथा चीनी व्यापारियो ने उपनिषदो, रहस्यवादी सिद्धान्तो और योग की विधियो को, जिनमें प्राणायाम और आध्यात्मिक आनन्दावस्था भी सम्मिलित थी, चीन पहुँचाया हो। लेकिन आज हम इस स्थिति मे नही है कि तथ्यरूप में इसकी स्थापना कर सकें।

मौर्य सम्राट् अशोक, जिनका साम्राज्य भारत की प्राकृतिक सीमा तक फैला हुआ था, अपने अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव और उद्देश्य के लिए बहुत प्रसिद्ध है। उन्होने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भारत की सीमा पर स्थित देशो मे तथा सीरिया, मिश्र और मैसीडोनिया जैसे दूर देशो मे समानरूप से प्रचारक भेजे थे। बौद्ध धर्म पूर्व के दूरस्थ देशो को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में ले आया और एक मानवता की भावना उत्पन्न कर दी जिसने लका से लेकर जापान के दूरस्थ द्वीपो तक के लोगो को अत्यन्त कोमल-हृदय बना दिया। अपनी बौद्धिक उदारता और मुक्त हृदयता के साथ चीन ने बौद्ध धर्म के सत्यो का स्वागत

[1] परिशिष्ट १, २ तथा ३ देखिये।

किया। इस समय चीन सामन्तो के बीच बँटा हुआ था। उन सामन्तो में से एक ने, जिसका नाम त्सिन (T'sin) था, सामन्ती रियासतो को समाप्त कर दिया और एक केन्द्रीय सरकार स्थापित की जिसने समस्त चीन को एक अधिकार-सत्ता के अधीन कर दिया। हान(Han) शासको ने, जो ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के अन्त में शासनारूढ हुए, इस नवनिर्मित चीनी साम्राज्य की अखण्डता दृढ करने में अपनी शक्ति लगाई। उत्तर से होनेवाले हमलो से रक्षा करने के लिए उन्होने चीन की महान् दीवाल बनवाई और जो लोग पश्चिमी सीमा पर रह रहे थे उनसे सधियाँ की। इनमें से यू-ची (Yue-che) भी थे जो पहिले ही बौद्ध धर्म से प्रभावित हो चुके थे। अब यह सिद्ध हो चुका है कि सन् २ ई० पू० में यू-ची शासको ने चीनी सम्राट् को बौद्ध ग्रन्थ भेंट किये।[1] भारत से आनेवाले प्रथम बौद्ध प्रचारक गोभरण और काश्यप मातग हान-राजवश के सम्राट् मिग ती के शासनकाल में चीन पहुँचे थे। सन्

[1] कहा जाता है कि बौद्ध प्रचारक सन् २१७ ई० पू० में चीन की राजधानी में उपस्थित थे जब कि वहाँ त्सिन (T'sin) वश का शासन था। यह भी कहा जाता है कि सन् १२१ ई० पू० में एक चीनी सेनापति को मध्य एशिया में बुद्ध की एक सोने की मूर्ति मिली थी जब वहाँ वह एक सैनिक अभियान में गया था। लेकिन इन कहानियो की पुष्टि नही हुई। देखिये विल्हेल्म लिखते हैं—"इस बात को स्पष्ट साक्ष्य है कि बौद्ध प्रतिमायें और बौद्ध उपदेश इस समय (६१–६७ सन्) के पहिले ही चीनी जनता तक पहुँच चुके थे। ये मूर्तियाँ और उपदेश मध्य एशिया के मार्ग से यहाँ पहुँचे, जहाँ पर बौद्ध धर्म बहुत पहिले से प्रचलित था।"—A Short History of Chinese Civilisation (1939), Reichelt को पृष्ठ १६७। Truth and Tradition in Chinese Buddhism, E. T. (1927), भी पृष्ठ २ देखिये।

६५ में सम्राट् ने एक स्वप्न देखा जिसमें उन्हें एक सोने की मूर्ति दिखाई दी और जब उन्हें मालूम हुआ कि वह मूर्ति बुद्ध है तो उन्होने बौद्ध उपदेशको को बुलवाया। दोनो उपदेशक अपने साथ एक श्वेत अश्व ले गये थे जिस पर पवित्र ग्रन्थ और अवशेषाश लदे हुए थे। सम्राट् के आदेश से उनके लिए राजधानी में एक विहार बनवाया गया जिसका नाम 'श्वेताश्व विहार' (The White Horse Monastery) था। दोनो स्थविरो ने अपना शेष जीवन बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा में अनुवाद करने और बौद्ध धर्म का उपदेश देने में बिताया। यद्यपि अनेक अनुवादो का श्रेय उन्हें दिया जाता है पर एक ही अनुवाद प्राप्त हो सका है, जिसका नाम है बयालिस विभागो का सूत्र ('The Sutra of the Forty-Two Sections)।

ये दोनो उपदेशक मध्य एशिया के मार्ग से चीन गये थे। दक्षिणी चीन के साथ ई० पू० दूसरी शताब्दी मे आसाम और वर्मा के मार्ग से भारतीय व्यापार के प्रमाण मिलते हैं और कुछ भारतीय उपदेशक इस मार्ग से भी चीन गये। बाद में तो समुद्री यात्राओ की अधिकता हो गई।

ईसा सन् की पहिली १० शताब्दियो तक तो भारतीय उपदेशक बहुत बडी सख्याओ मे चीन गये।[1] लेकिन ११वी शताब्दी के बाद

---

[1] इन उपदेशको में से प्रधान है—धर्मरक्ष (तीसरी सदी का मध्य), सघभूति (सन् ३८१), गौतम सघदेव (सन् ३८४), पुण्यत्राता और उनके शिष्य धमयशस् (सन् ३९७), बुद्धयशस् (चौथी सदी), कुमारजीव (सन् ४०१), विमलाक्ष (सन् ४०६), धर्मक्षेम (सन् ४१४), बुद्धजीव (सन् ४२३), गुणभद्र (सन् ४३५), बोधिधर्म (सन् ५२०), विमोक्ष सेन (सन् ५४१), उपशून्य और परमार्थ

चीन के आलेखो में भारतीय अतिथियो की चीन-साम्राज्य में आने की चर्चा नही मिलती। इसका कारण है भारत में बौद्ध धर्म का पतन और ११वीं सदी के बाद हिन्दू-धर्म द्वारा बौद्ध धर्म का आत्मसात् कर लेना।

जब चीन की आत्मा का सम्पर्क भारत की सास्कृतिक विभूति से हुआ तब एक नवीन चीन का जन्म हुआ, उस चीन का जो आज तक जीवित है। जहाँ तक चीन के भारतीय उपदेशको के प्रभाव का प्रश्न है, चीनी बौद्ध धर्म के एक विदेशी विद्यार्थी का ही कथन देखें--"चीन इन प्रथम प्रवासी बौद्ध प्रचारको को कभी नही भूल सकेगा जिन्होने अनुवाद और सगठन के कठिन कार्य को इतनी योग्यता और श्रद्धा के साथ किया और जिन्होने प्रचार-कार्य में इस प्रकार अपने को तन-मन से तल्लीन कर दिया। जब आज इन भारतीय यात्रियो द्वारा अनूदित और प्रस्तुत विशाल बौद्ध साहित्य को हम देखते है जो सुन्दरतम और उत्कृष्टतम शैली में प्राचीन चीनी विद्वज्जन द्वारा लिखा गया है तो बरबस हमारे हृदय में एक गम्भीर आश्चर्य और श्रद्धा की भावना भर जाती है।

"फिर भी, एक दूसरा पक्ष ऐसा है जो यदि सम्भव हो सके तो और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस बात पर भी ध्यान देना ही चाहिए कि आर्य-जाति के सर्वाधिक गम्भीर धार्मिक जीवन के इन प्रतिनिधियो ने अपेक्षाकृत रूक्ष और वस्तुवादी मगोल-जाति के चरित्र पर बहुत

(सन् ५४६), जिनगुप्त और उनके गुरु ज्ञानभद्र तथा जिनयशस् (सन् ५५९), धर्मगुप्त (सन् ५९०), प्रभाकरमित्र (सन् ६२७), बोधिरुचि (सन ६९३), शुभाकरसिंह (सन् ७१६), वज्रबोधि और अमोघवज्र (सन् ७२०), धर्मदेव (सन् ९७३)।

अधिक अध्यात्मिक प्रभाव डाला है। जो भारतीय स्थविर चीन के प्रारम्भिक मन्दिरो में रहे, गुहाओ में बैठकर जिन्होने बडी सावधानी से सूत्रो की प्रतिलिपियाँ बनाई और जो अपने सामान्य शाकाहार और नियमित उपासना में जीवन बिताते रहे वे हृदय की गहनतम अनुभूति मे धार्मिक व्यक्ति थे, जिनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था परमसत्ता में विलीन हो जाना। • धीरे-धीरे मगोल लोगो के रूखे हृदय पिघले और इस व्यक्तिगत प्रभाव से चीन की स्थविर परम्परा में चरित्र की शालीनता से सयुक्त वह पवित्र विभूति उत्पन्न हुई जो तब से लेकर आज तक चीन के बौद्धो के सम्मुख एक महान् आदर्श बनी हुई है और जिसकी प्राप्ति व्यक्तिगतरूप से ही की जा सकी, जीवन में जिसे बहुत थोड़े ही लोग उतार सके।"[१]

आज बौद्ध धर्म के प्रति नये रूप में अभिरुचि उत्पन्न हो रही है। भारत की वर्तमान आध्यात्मिक जाग्रति में गौतम बुद्ध और उनके सन्देश को अपना उचित स्थान प्राप्त हो रहा है। अधिकाधिकरूप मे यह स्वीकार किया जा रहा है कि गौतम बुद्ध हिन्दू-धर्म के एक् सुधारक थे, विरोधी नही। उनके तात्त्विक सिद्धान्तो का मूल उपनिषदो में है। नये-नये बौद्ध मन्दिर और बौद्ध सङ्घाराम देश के सभी भागो मे बन रहे है। ऐसी आशा करने के पर्याप्त कारण है कि पूर्व के आध्यात्मिक जीवन को सजग सबल बनाने में भारत एक बार फिर एक महत्त्वपूर्ण भाग लेगा।

चीनी भाषा में बौद्ध ग्रन्थो के ऐसे अनेक अनुवाद है जिनके मूल ग्रन्थो का पता नही है। इन मूल-ग्रन्थो की खोज एक ऐसा महत्त्वपूर्ण

---

[१] Reichelt : Truth and Tradition in Chinese Buddhism, E T. (1927), पृष्ठ १२-१३।

काम है जो चीन और भारत के अनुसंधानकर्ताओं के अध्यवसाय की प्रतीक्षा कर रहा है।

चीन और भारत के बीच विद्वानों का आवागमन एकपक्षीय नहीं था। जब कभी बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों और व्यवहारों के सम्बन्ध में कोई विवाद उत्पन्न होता था तो चीन के यात्री सत्य का उसके मूल स्थान में अनुसंधान करने के लिए भारत आते थे—बौद्ध ग्रन्थों का मूलरूप में अध्ययन करने और महात्मा बुद्ध की स्मृति के पवित्र स्थानों का दर्शन करने के लिए। श्री इ-चिंग का कहना है कि तीसरी शताब्दी के मध्य में २० चीनी स्थविर भारत आये थे। एक गुप्त सम्राट् ने बोधगया के समीप उनके लिए एक विहार बनवाया था जिसका नाम चीना सहाराम था। इन चीनी यात्रियों में से सर्वाधिक साहसी थे श्री फाहियान (सन् ३९९-४१४) जो स्थल-मार्ग से भारत आये और जल-मार्ग से चीन वापस गये, श्री चे-मांग (सन् ४०४-४२४), श्री सुंग युन (सन् ५३०), श्री ह्वेन-त्सेंग (सन् ६२९-६४५), श्री वांग ह्वेन-त्सो (सन् ६३४-६४७) जिन्होंने बाद में फिर भारत की यात्रा की और श्री इ-चिंग (सन् ६७१-६९५)। इन तथा भारत आनेवाले अन्य चीनी यात्रियों में से श्री ह्वेन त्सेंग निश्चय ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे। वे चीनी-भारतीय सांस्कृतिक सहयोग के प्रतीक हैं। भारत में उनकी यात्राओं के विवरण चीन के युवकों और वृद्धों के लिए एक विशिष्ट साहित्य हैं। सन् ६२२ ई० में उन्होंने पूर्णरूप से बौद्ध स्थविर का अनुशासनमय जीवन स्वीकार कर लिया और सन् ६२९ ई० में अपनी यात्रा पर चल पड़े। उनकी प्रार्थना थी—"इस यात्रा में मेरा उद्देश्य न धन प्राप्त करने का है, न प्रशंसा और न प्रसिद्धि। मेरा पूर्ण उद्देश्य है उच्चतर ज्ञान और सत्य-विधान की खोज और प्राप्ति। और हे बोधि-

सत्त्व ! तुम्हारा हृदय ही जीवो को जीवन की यातनाओ से मुक्त करने के लिए उत्कंठित रहता है। और भला मुझसे कठोर यातनायें सहनेवाला क्या कभी कोई हुआ है ? क्या तुम मेरी यातनाओ को समझ नही सकते ?" भारत में उन्होने लगभग सोलह वर्ष बिताये, उत्तरी और दक्षिणी भारत मे घूमे और शक्तिमान् भारतीय शासको—कन्नौज के श्री हर्ष और कामरूप के भास्करवर्मन—से भेंट की। उन्होने नालन्दा विश्वविद्यालय मे आचार्य शीलभद्र की शिक्षा में पाँच वर्ष तक अध्ययन किया। यह आचार्य शीलभद्र धर्मपाल के शिष्य थे जिनको महान् आचार्य असग और वसुबन्धु के शिष्य तर्कशास्त्री दिङ्नाग ने शिक्षा दी थी। श्री ह्वेन-त्सँग ने विज्ञानवाद के सिद्धान्त का गम्भीर अध्ययन किया। खोतान से लौटते हुए उन्होने अपने सम्राट् को एक स्मृति-पत्र[1] भेजा जिसमें उन्ह ने उन कारणो को स्पष्ट किया जिनसे बाध्य होकर सम्राट् की अनुमति बिना ही उन्होने भारत की लम्बी और

---

[1] "यदि हम ज्ञान की खोज में दूर-दूर की यात्रा करनेवाले अपने प्राचीन आचार्यों की प्रशसा करते है तो हमें उनकी कितनी अधिक प्रशसा करनी चाहिए जो कल्याणकारी बौद्ध धर्म के गुह्य तत्त्वो की खोज करते है, जो ससार-जाल से मुक्त करने मे समर्थ त्रिपिटिक के अद्भुत मन्त्रो का अनुसधान करते है ! ऐसे प्रयासो की अवमानना हम कैसे कर सकते है ? हर्ष और उत्साह के साथ हम कैसे उनका स्वागत नही करेंगे? मै—ह्वेन त्सँग—बहुत पहिले से भगवान् बुद्ध के उन सिद्धान्तो से परिचित हो चुका था जिन्हें वे चीन के पश्चिम की दुनियाँ का दे गये थे, जिन सिद्धान्तो के नियम और आदेश पूर्व में अपूर्णरूप में ही पहुँच पाये। मै सर्वदा एक ऐसी योजना के सम्बन्ध में सोचता रहा जिसके अनुसार अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा के विचार से मुक्त होकर इस सत्य-ज्ञान की खोज की जा सके। तदनुसार

दुस्साध्य यात्रा की थी। सम्राट् ने उदारता के साथ उनके इस स्मृति-पत्र को स्वीकार किया और खोतान के अधिकारियों को आदेश दिया कि इस यशस्वी यात्री की सहायता करें। जब वे चीन पहुँचे तो सम्राट् ने बड़े स्नेह से उनका स्वागत किया। उनकी भारत यात्रा और बौद्ध धर्म के लिए किये गये उनके कार्यों ने चीन में भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में बड़ी अभिरुचि उत्पन्न कर दी।

भारत और चीन के इन परिव्राजक मनीषियों और कल्याण तथा ज्ञान-सिद्धि के लिए किये गये उनके अथक प्रयासों की प्रशंसा किये बिना हम नहीं रह सकते। पर परिस्थिति का विरोधाभास तो यह है

चेंगकुआन काल के तीसरे वर्ष के चतुर्थ माह (सन् ६३० ई०) में संकटों, कठिनाइयों और आपत्तियों का सामना करते हुए मैं गुप्त रूप से भारत पहुँच गया। मैंने विशाल बालुका-प्रदेश पार किये, हिमाच्छादित पर्वत की चोटियों को पार किया, लौह द्वारों के मार्गों में से अपना मार्ग निकाला और भयानक सागर की गरजती लहरों पर से अपना रास्ता बनाया। इस प्रकार मैंने पचास हजार ली (लगभग १७ हजार मील) से भी अधिक लम्बी यात्रा की है, और अब परम्पराओं और रीतियों के असंख्य विभेदों और अगणित आपदाओं का सामना करने के बाद भगवान् की अनुकम्पा से बिना किसी प्रकार की दुर्घटना का शिकार बने स्वस्थ शरीर और अपने संकल्पों की पूर्ति से सन्तुष्ट मन के साथ वापस लौटकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा हूँ। मैंने गृध्रकूट पर्वत देखा है, बोधि वृक्ष की उपासना की है, मैंने उन चिह्नों को देखा है जो पहिले नहीं देखे थे, उन पवित्र शब्दों को सुना है जो पहिले नहीं सुने थे, उन आध्यात्मिक विभूतियों को देखा है जो प्रकृति के समस्त आश्चर्यों से बढ़कर हैं, अपने महान् सम्राट् के महान् गुणों का साक्षी बना हूँ और उनके लिए जनता का सम्मान और श्रद्धा अर्जित की है।"—India And China by Bagchi (1944), पृष्ठ ७८-७९।

कि जैसे-जैसे आवागमन के साधन बढते गये, सास्कृतिक सम्बन्ध ठप होते गये। लम्बी-से-लम्बी यात्रायें आश्चर्यजनकरूप में आसान हो गई है, पर पारस्परिक सद्वोध भयानकरूप से कठिन हो गया है। जैसे-जैसे भौतिक दूरी कम होती गई है, मानसिक दूरी वढती गई है।

दोनो देशो की राजनीतिक विपदाओ के कारण विद्वानो का आवागमन कम हो गया है। सन् १९११ में चीनी गणतत्र की स्थापना के बाद हमारी पारस्परिक अभिरुचि बढ गई है। आपने आज से ठीक २० वर्ष पहले सन् १९२४ में श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर की चीन-यात्रा का तथा महावलाधिकृत और श्रीमती च्यांग, माननीय ताई ची-ताओ तथा शिक्षा-सचिवालय के डाक्टर कू के नेतृत्व में सास्कृतिक शिष्ट-मडल की भारत-यात्रा की चर्चा की है। हाल ही मे विद्यार्थियो के आदान-प्रदान की जो योजना बनाई गई है वह सफलतापूर्वक काम कर रही है और मेरा विश्वास है कि उसका भविष्य सम्भावनाओ से उज्ज्वल है। यदि इससे आगे बढकर अध्यापको का भी आदान-प्रदान हो तो पारस्परिक सद्भावना बढेगी और उससे हमारा कल्याण होगा। यदि चीन और भारत, जो अनाक्रामक राष्ट्र है, आगे आनेवाले वर्षो में एक साथ चल सकें तो विश्व के नवनिर्माण को बुद्धिमत्ता की नीव पर निर्मित करने में वे प्रभावपूर्ण योग दे सकेंगे।

चीन के प्रति भारत की सहानुभूति

हम भारतीयो ने आपकी उस वीरता और सकल्प-शक्ति की प्रशसा की है जो आपने अपने महावलाधिकृत के नेतृत्व मे अपनी स्वाधीनता और अपने आत्म-सम्मान के लिए होनेवाले इस सघर्ष में दिखाई है।

इस युद्ध में आक्रमणकारियों के विरुद्ध कमर कसकर युद्ध करनेवाले आप पहिले राष्ट्र हैं और पूरे साढे चार वर्ष तक आपने अकेले एक सबल शत्रु से उस दृढता के साथ लोहा लिया है जिसको देखकर चीन के भविष्य के सम्बन्ध मे शका करनेवाले शान्त हो गये है। साढे चार वर्ष बाद पर्ल बन्दरगाह पर हमला हुआ जिसके कारण अमरीका और ब्रिटेन आपके पक्ष में आये। आपकी मुसीबत की घडी में हमारे नेताओ ने अपनी गहरी सहानुभूति व्यक्त की है और यह हार्दिक आशा प्रकट की है कि अस्थायी सकट चाहे जो हो, आपका यह देश कभी पराजित नही हो सकता और अन्ततोगत्वा इसकी विजय होगी। जापानी कवि योन नागूची को लिखे गये रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भर्त्सना भरे पत्र प्रसिद्ध है। जब गाधीजी ने अर्धबुभुक्षु रोगग्रस्त लाखो भारतियो को राष्ट्रीय प्रयत्नो से अन्न और मान देने के प्रयत्न मे 'भारत छोडो' का नारा उठाया तो उन्होने स्पष्ट कर दिया था कि इसका अर्थ केवल यह है कि भारत से ब्रिटेन का राजनीतिक स्वत्व हटा लिया जाय, अग्रेजी नियत्रण समाप्त हो और इसका यह अर्थ नही है कि अग्रेजो का भारत से सम्बन्ध समाप्त हो जाय और न उसका यह अर्थ है कि धुरा-राष्ट्रो के विरुद्ध भारत मे होनेवाले युद्ध-प्रयासो में किसी प्रकार की बाधा आये। पर उस नारे का बहुत गलत अर्थ लगाया गया। भारतीय राष्ट्रीय महासभा के नेताओ ने चीनी जनता के सम्मुख यह स्पष्ट करने की भर-सक कोशिश की कि तत्काल स्वाधीनता पाने का उनका सघर्ष इस प्रकार नही चलाया जायगा जिसमे युद्ध-प्रयासो में बाधा पडे या चीन के हित को हानि पहुँचे। अगस्त, सन् १९४२ में बदी बनाये जाने के पहिले गाधी जी ने आपके महाबलाधिकृत को लिखा था—"चीन के प्रति मेरी जो भावना है उसके कारण मै आपके सामने यह स्पष्ट कर देने के लिए उत्सुक हूं

कि अंग्रेजी शक्ति से भारत छोड देने की मै जो अपील कर रहा हूँ उसका किसी प्रकार भी यह अर्थ नही है कि जापान के विरुद्ध भारत की सुरक्षा को दुर्बल बनाया जाय या आप जो सघर्ष चला रहे है उसमे कोई अड-चन पडे। मै जो भी कार्य करने का अनुमोदन करूँगा वह इस विचार के साथ निर्धारित होगा कि उस कार्य से चीन को हानि न पहुँचे और भारत या चीन के विरुद्ध जापानी आक्रमण को प्रोत्साहन न मिले।"[१] यह कहना गलत है कि भारतीय राजनीतिक नेता जापान के तोषक है। वे अच्छी तरह जानते है कि जब तक फासीवाद नष्ट नही किया जाता तब तक स्वाधीनता का पुनर्जन्म नही हो सकता, मानवता का उत्थान नही हो सकता। और निश्चय ही नाजीवाद की पराजय का व्यावहारिक अर्थ है प्रधान प्रतिक्रियावादी शक्तियो से ससार को मुक्त करना। यह

---

[१] सर स्टैफर्ड क्रिप्स द्वारा अमरीकी जनता के नाम प्रसारित किये गये भाषण के उत्तर मे पडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"यदि हमने कोई भी बात स्पष्ट और निश्चित रूप मे कही है तो वह यह है कि स्वतत्र भारत देश की रक्षा हर प्रकार से—सैन्य दल से और हर उपाय से—करेगा।" नेहरूजी ने यह बात गाधीजी की पूरी सहमति के साथ कही थी। गाधीजी का कहना था—"मेरे लिए तो अहिंसा धर्म-सिद्धान्त है, मेरे जीवन का श्वास है। लेकिन एक धर्म-सिद्धान्त के रूप में मैंने अहिंसा को देश के सामने कभी नहीं रखा • मैंने इसे काग्रेस के सम्मुख राजनीतिक प्रश्नो और समस्याओ का हल निकालने के लिए एक राजनीतिक साधन के रूप में रखा है। एक राजनीतिक साधन के रूप में उसे हमेशा बदला जा सकता है, सुधारा जा सकता है, उसका विकल्प सोचा जा सकता है और उसे किसी दूसरे साधन के बदले छोडा भी जा सकता है • जो कुछ आप चाहते है वह यदि मिल जाता है तो आप अपना सौदा कीजिये और निश्चिन्त रहिये कि मै उस पर कुछ भी अफसोस नही करूँगा।"

कोई एक राष्ट्र का राष्ट्रीय प्रश्न नही है, यह तो समूचे ससार की दशा है। जब पश्चिम के प्रजातन्त्रवादी राष्ट्र जर्मनी, इटली और जापान के प्रति तोषक-नीति अपनाये हुए थे तभी भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने खुल कर उस नीति का विरोध किया था और सर्वसम्मति से अपनी यह उत्कठा प्रगट की थी कि भारत और ससार के अन्य भागो की फासी साम्राज्यवाद के खतरे से रक्षा की जानी चाहिए। यह खतरा हिंसा और आक्रमण के द्वारा दुनियाँ का नया नक्शा ``ाये जाने की चुनौती दे रहा था। समूचे देश मे चारो ओर जिस प्रकार भारत मे 'चीन-दिवस' मनाया गया और आपके महाबलाधिकृत और श्रीमती च्याग का जिस प्रकार उत्साहपूर्ण स्वागत देश ने किया जब कि वे सन् १९४२ में राजनीतिक और सामरिक वार्ता के लिए भारत गये थे, उसी से आपको अन्दाज लग सकता है कि हमारा देश आपकी इन कठिनाइयो और परीक्षाओ के प्रति कितनी सहानुभूति रखता है।

क्या है जो आपने नही देखा, नही सहा और नही झेला ? प्रलय के उचासो पवन—विद्रोह, क्रान्ति, गृह-कलह आतक, स्नायु-घातक अनिश्चितता, प्रकृति का कोप, अकाल, मुद्रास्फीति, महामारी, जन-समूह का स्थानान्तरण—सभी आपके जीवन में पूरे वेग से बहे। वैभव-भरित विपुल दिनो में जो लोग आराम से जीवन बिताते थे, जिनके जीवन में शान्ति थी, जो अजातशत्रु और विश्वमित्र थे, जिनके जीवन मे एक स्वाभाविक अनपेक्षा और आनन्द की ज्योति थी, जो मानवीय प्रेम और पारिवारिक शालीनता मे स्वभावत आनन्द पाते थे आज वही युद्ध के विनाश से विक्षिप्त और विकल है। इस अत्यन्त सकट की घडी में आपकी प्रसुप्त शक्ति जग पडी है और ससार उसे देख रहा है।

भारत में हमने भी अपनी मुसीबतें झेली है और हम आपकी इन

मुसीबतो को समझ सकते है जो ऐसी विदेशी शक्तियाँ पैदा कर रही है जिन्हें अपने प्रभाव और अधिकार-क्षेत्र निर्मित करने की चिन्ता है। अपने विषादो ने हमें गम्भीर बना दिया है, अपनी परीक्षाओ ने हमें सहनशील बना दिया है। आज जो कुछ जोर-शोर से हमें सुनाया जा रहा है उस सबके बावजूद भी हमारा विश्वास है कि उत्थान के स्वर फिर फूटेंगे। हम अपने देश में विदेशियो द्वारा बार-बार पराजित हुए है और फिर भी हम उनकी मृत्यु और अपना जीवन देख सके है क्योकि हमारे भीतर कोई ऐसी गुप्त शक्ति है जो पराजय को विजय में बदल देती है, उसे भी फलदा बना देती है। राजनीतिक पराजय आत्मा की पराजय नही है। सच्ची पराजय है उन चीजो पर से विश्वास उठ जाना जो मनुष्य की निर्दयता और उसके पागलपन की चोट सहकर भी जीवित रहती है। आपने अन्य किसी राष्ट्र की अपेक्षा अधिक विपत्तियो को झेला है, लेकिन इन विनाशो के ढेर से हमेशा आपका मस्तक ऊँचा उठा है और उठकर आपने जीवन की शान्तिमूलक कलाओ की ओर उस मानवता और धैर्य के साथ कदम बढाये है जो युगो से चीन की विशेषता रही है। महान् सन्त लाओ त्सू ने विश्व की रचनात्मक भावना को इस सिद्धान्त के अनकूल कार्य करते हुए बनाया है— "स्वामित्वहीन उत्पादन, आत्म स्थापन-हीन कर्म, आधिपत्य-मुक्त उत्थान।" आत्म स्थापन और आधिपत्य की भावना से पीडित ससार में आपने जीवन का यह दृष्टिकोण सुरक्षित रखा है।

हम भारतीय आज भी एक धार्मिक जाति है , बहुत से लोगो का विचार है कि हम जरूरत से ज्यादा धार्मिक है। कुछ भी हो, हमने आज भी आत्मा के मूल्य-महत्त्व और समाज के नैतिक सगठन पर अपना विश्वास नही खोया। हमारे सन्तो ने घोषणा की है—' अधर्म से मनुष्य

पनप सकता है, जीवन में अनेक लाभ उठा सकता है, अपने शत्रुओ पर विजय पा सकता है, पर यह निश्चित है कि उसका अधर्म अन्त में उसे डुबो देगा।" श्री कन्फ्यूशियस की यह घोषणा कि स्वर्ग की इच्छा ही विजयिनी होगी, श्री लाओ त्सू का यह कहना कि ताओ (धर्म) की अवहेलना करके किसी की गति नही, बुद्ध की यह स्थापना कि धरती और स्वर्ग पर कल्याण का केवल एक उपाय है धर्म या पवित्रता—इन सबका यही अर्थ है कि ससार का शोषण करनेवाले अन्ततोगत्वा नैतिक विधान की चट्टान से टकराकर अपने विनाश को प्राप्त होते है। मानव-अस्तित्व पर चिन्तन करनेवाले सन्तो का यह विश्वास कि "हिंसक मनुष्य का आज तक कभी भी कल्याणकारी अन्त नही हुआ"[१] उन लोगो के निष्कर्ष से भी पुष्ट होता है जिन्होने इतिहास का तत्त्व-दर्शन किया है और जो इस परिणाम पर पहुँचे है कि ऐतिहासिक स्तर पर शक्ति के दुरुपयोग का प्रतिफल दण्ड मिलता ही है। सशयात्मा श्री गिबन (Gibbon) को मानव-जीवन में धर्म की महत्ता का कुछ भी पर्याप्त बोध न था, फिर भी उन्होने लिखा—"मुझे विश्वास है कि मुझपर अन्धविश्वासी होने का दोषारोपण नही किया जायगा, पर मुझे यह कहना ही पडेगा कि इस ससार में भी कभी-कभी घटनाओ का स्वाभाविक क्रम नैतिक प्रतिशोध जान पडता है—और बडी प्रबलता के साथ।" यह विश्व अन्ध-अपरिणाम के हाथ का खिलौना नही है। मनुष्यो के कर्मो और व्यापारो में एक नैतिक विधान है। यही तो एक आशा है जो लाखो प्रताडित दासो के लिए भी जीवन जीने लायक बनाये है।

---

[१] Tao Te Ching, XLII

भारत के प्रति चीन की सहानुभूति

इस अवसर पर मै चीन की जनता और चीन के नेताओ को उनकी सहानुभूति और उनकी सहायता के लिए धन्यवाद देना चाहता हूँ जो उन्होने हमें अपने सघर्ष में दी है। आपके महाबलाधिकृत के विदा होते समय के वे शब्द हमे याद है जिनमें उन्होने अग्रेज़ी सरकार से भारत को वास्तविक राजनीतिक शक्ति देने की अपील की थी। हम उनकी उस अपील के लिए आभारी है। उन्होने यह महसूस किया था कि भारतीय जनता की माँगो के तिरस्कार से और उससे उत्पन्न निराशा के कारण कुछ लोगो में एक विषादपूर्ण तटस्थ मनोवृत्ति बढ रही है। वे जानते थे कि भारत के लोग धुरी-राष्ट्रो के प्रबल विरोधी है और यदि उनके अपने चुने हुए नेता शासन-सूत्र सँभालें तो भारतीय जनता यह अनुभव करने लगे कि वह केवल ससार की स्वाधीनता के लिए ही नही लड रही बल्कि स्वय अपनी आज़ादी के लिए लड रही है। किराये पर भरती किये जाकर लडाई लडना दूसरी बात है—जैसे कि अधिकृत योरोप के लोगो से हिटलर ने अपनी किराये की फौजे खडी की है—और अपने आपको दासता से बचाने के लिए युद्ध करना दूसरी बात है जैसा कि चीन, रूस और अन्य स्वतन्त्र देशो के लोग लड रहे है। चीन को न केवल भारतीय स्वाधीनता की भाव-सूक्ष्म समस्या से गम्भीर सहानुभूति है बल्कि भारत के युद्ध-प्रयत्नो के प्रकार और उनके परिमाण को भी ऊपर उठाने के लिए वह चिन्तित है। चीन यह नही चाहता कि 'स्वाधीनता के लिए युद्ध' का नारा केवल एक नारा बनकर रह जाय, इसलिए चीन के नेता ने मित्र-राष्ट्रो के पक्ष में भारत की सम्पूर्ण नैतिक और पार्थिव शक्ति जीत लेने के उद्देश्य से ब्रिटेन से भारत में राष्ट्रीय

सरकार की स्थापना की अपील की ताकि भारतीय जनता की आशायें उन्मुक्त हो, उन्हें एक प्रेरणात्मक आदर्श प्राप्त हो और इस प्रकार भारतीय समाज की बढती हुई शक्तियो का सम्पूर्ण बल मित्रराष्ट्रो को प्राप्त हो।

दार्शनिक अध्ययन की महत्ता

महोदय! आपने आज के वेदना-विकल युग मे दार्शनिक अध्ययन और अनुशासन की महत्ता का उल्लेख किया है। आपने स्वय अनुभव किया है और जानते है कि मनुष्य कितना नृशस हो सकता है, कैसा प्रमत्त पशु वह बन सकता है और फिर भी सकटो, परीक्षाओ का सामना करने और उन पर विजय पाने को उसमे कितनी अदम्य शक्ति है। मनुष्य का निर्माण आनन्द के लिए हुआ है लेकिन वह सर्वत्र निरानन्द है, उसके हृदय मे आनन्द और हँसी के तत्त्व जैसे निचोडकर बाहर कर दिये गये है। मनुष्य का जीवन जीने, प्रेम करने और प्रसन्न रहने के लिए है, लेकिन हम देखते है कि वह अपने शरीर में मदिरा भरकर, हाथो में बन्दूक लेकर और हृदय में रोप की आग सुलगाकर उद्वेग के साथ चल रहा है। विज्ञान की जो अद्भुत सफलतायें मानवीय सुख और रचना-मूलक स्वाधीनता के विकास के लिए है उनका उपयोग विनाशकारी कार्यो में किया जाता है। युगो का स्वप्न आज पूरा हुआ है—हमने पवन-देव को जीता, विश्व गोलक के आर-पार मनुष्य के स्वर की गति हुई, हमने आकाश को जीता, परमाणु का विस्फोट किया और भयानक-से-भयानक बीमारियो की रोक-थाम और चिकित्सा खोज निकाली। लेकिन जिस समय और जितने समय में हमने यह सब

किया, जो देव-तुल्य है, उसी और उतने ही समय में हमने आत्म-सहार की अनन्त सामर्थ्य भी उत्पन्न कर ली है और एक अकल्पनीय वर्वरता के स्तर पर पहुँच गये है। हमें स्वय अपना नियामक वनना सीखना होगा। सभ्यता प्राविधिक या यान्त्रिक कुशलता नहीं है, वह आत्मा की सस्कृति है।

श्री कन्फ्यूशियम कहते है—"धनुर्विद्या मे मनुष्य की सच्ची सस्कृति की अनुकृति है। यदि व्यक्ति निशाना चूक जाता है तो इसका कारण अपने ही भीतर खोजना होता है।" हमे वैज्ञानिक सफलतायें मिली है, यान्त्रिक और प्राविधिक उन्नति हुई है, सगठन की अद्भुत शक्तियाँ हमें मिली है और कष्ट-सहन तथा वलिदान के नैतिक गुण हममे अत्यधिक मात्रा में है, लेकिन फिर भी हम दुखी है। विज्ञान और उसके अनुसन्धानो का सम्बन्ध वाह्य सगठन से है न कि आन्तरिक जीवन से। सुन्दर मानव जीवन के मार्ग मे आनेवाली वाधाओ को दूर करने में इनसे सहायता मिलती है, लेकिन यह स्वय सुन्दर जीवन की सृष्टि नही करते। यह हमें दीर्घ जीवन, व्याधि-निवारण और सम्पत्ति तथा अवकाश-वृद्धि के साधन तो देते है लेकिन यह नही वता पाते कि इस लम्बे जीवन, अवकाश, स्वास्थ्य और सम्पत्ति को लेकर हम करें क्या! श्री ऑस्कर वाइल्ड (Mr. Oscar Wilde) ने एक महान् कहानी कही है—"एक शुभ्र समतल से यीशु एक पीत नगर मे आये। जव वे पहिली गली पार कर रहे थे, उन्हें अपने ऊपर कुछ आवाजें सुनाई दी और उन्होंने देखा कि एक नवयुवक एक खिडकी की देहली पर शराव पिये पडा है। उन्होंने पूछा—'तुम अपना जीवन शरावखोरी में क्यो वरवाद करते हो?' उसने उत्तर दिया—'देव, मैं एक कोढी था और आपने मुझे नीरोग किया, मैं अव क्या करूँ?' कुछ दूर और

चलने पर उन्हें एक नवजवान वेश्या के पीछे दौडता दिखाई दिया और उन्होने कहा--'तुम अपनी आत्मा को इस प्रकार पतित क्यो करते हो ?' और उस नवजवान ने उत्तर दिया--'मै अन्धा था और आपने मुझे आँखे दी, मै अब और क्या कर सकता हूँ ?' आखिरकार उन्हें नगर के बीच एक बुड्ढा मिला जो धरती पर दुबककर पडा रो रहा था। जब यीशु ने उससे रोने का कारण पूछा तो उस बुड्ढे ने उत्तर दिया—'देव, मै मर गया था और आपने मुझे फिर से जीवन में प्रतिष्ठित किया, अब मै रोने के अलावा और क्या कर सकता हूँ ?' "स्वास्थ्य, सम्पत्ति और जीवन तो वे अवसर है जो विज्ञान हमें दे सकता है, लेकिन इन अवसरो का उपयोग हम कैसे करे यह तो केवल दर्शन ही बता सकता है।" प्लैटो कहते है—"ज्ञान का जीवन--भले ही उसमें सभी विज्ञान भी सम्मिलित हो--सुख और कल्याण की सृष्टि नही कर सकता, यह तो ज्ञान की केवल एक ही शाखा कर सकती है—सत् और असत् का विज्ञान। इसके बिना औषधि-ज्ञान हमें स्वास्थ्य दे सकेगा, नाविक-कला सागर में जीवन रक्षा कर सकेगी, दाँव-पेंच युद्ध जीत सकेंगे लेकिन उस सत् और असत् के ज्ञान बिना इन सबका उपयोग और इनकी उत्तमता हमारा साथ न दे सकेगी।" प्रसिद्ध पुस्तक दि ग्रेट लर्निंग (The Great Learning) में यह स्पष्ट बताया गया है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास के साथ विश्व-शान्ति और सौहार्द्य का कैसा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। "अपने ज्ञात विश्व में ज्योतिर्मय विभूतियों का उदाहरण रखने के इच्छुक पूर्वज पहिले अपने-अपने राज्य की सुन्दर व्यवस्था करते थे, अपने राज्य की व्यवस्था सुधारने की इच्छा रखनेवाले वे लोग पहिले अपने परिवारो की व्यवस्था सुधारते थे, अपने परिवारो को व्यवस्थित करने के इच्छुक वे लोग

पहिले अपने व्यक्तित्व का सस्कार करते थे, अपने व्यक्तित्व का सस्कार करने के इच्छुक वे लोग पहिले अपने हृदयो को स्वच्छ बनाते थे, अपने हृदयो का शोधन करने के इच्छुक वे लोग पहिले अपने विचारो में सत्य-व्रत होने का लक्ष्य रखते थे—वस्तुओ को उनके यथातथ्य रूप में देखने का प्रयत्न करते थे, विचारो में सत्य-व्रत होने के इच्छुक वे लोग पहिले यथासम्भव अधिक-से-अधिक अपने ज्ञान का विस्तार करते थे, ज्ञान का यह विस्तार वस्तुओ की परख और उनकी खोज में है।" विज्ञान और नीति-शास्त्र अपने आप मे पर्याप्त नही है। हमें एक निर्देश-सविध की, जीवन की एक व्याख्या की, आवश्यकता है जो शक्तियो और विचारो के वास्तविक घात-प्रतिघात को स्पष्ट कर सके और उन्हे उपयुक्त मार्ग दिखा सके। हमें इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि मनुष्य का निर्माण किस लिए हुआ है और तब अपने आपको उसके लिए तैयार करना चाहिए। एक सामाजिक जीव के रूप मे हम इस-लिए असफल हो गये है कि हमारे जीवन की समस्त शक्तियो का उपयोग एक गलत उद्देश्य के लिए किया गया है। जीवन के उद्देश्यो की एक समुचित अवधारणा (दर्शन) हमे चाहिए और चाहिए उस अवधारणा को सिद्धि के लिए एक अनुशासन (धर्म)।

ऐसे लोग भी है जो चीन और भारत की राजनीतिक और आर्थिक अधोगति को देखकर कहेंगे कि दार्शनिक अध्ययन व्यर्थ है, पर पूर्व की राजनीतिक असफलता से दार्शनिक विवेक की अशक्ति ठीक वैसे ही सिद्ध नही हो सकती जैसे वर्तमान युद्ध से विज्ञान के सत्य और उसकी भावना को असत्य सिद्ध नही किया जा सकता। विज्ञान मानवता का विनाशक केवल इसलिए सिद्ध हो रहा है कि उसकी शक्तियो का प्रयोग बर्बर हाथो से हो रहा है। यह लोक-प्रसिद्ध बात है कि सत् साधनो

का प्रयोग दुर्वृत्त हाथो से होने पर वे सत् साधन भी गलत काम करते है। दर्शन अप्रभावकारी सिद्ध हुआ है इसलिए कि प्रकृति के ऊपर मानव नियंत्रण से उसका सम्बन्ध नही जोडा गया जो उसके आदर्शों की मूर्त अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। विश्व में अपने कर्तृत्व के लिए दर्शन विज्ञान का सहारा चाहता है और विज्ञान व्यवहार में मार्ग-प्रदर्शन के लिए दर्शन का मुंह ताकता है। हमें ऐसा विवेक चाहिए जो ज्योतिस्फीत हो और वह ज्ञान चाहिए जो शक्ति हो।

शान्तिवाद

अपनी वृत्तियो से आप युगो से शान्तिवादी रहे है, आज आवश्यकतावश आप सैन्यवादी बन गये है। आपको न केवल युद्ध-क्षेत्र में अपने शत्रुओ से लडना पड रहा है बल्कि अपनी उस उच्च प्रकृति से भी आप लड रहे है जो आपको शान्ति और भाई-चारे की ओर प्रेरित करती है।[1] मुझे पूरा विश्वास है कि आप

---

[1] चीन में एक सैनिक की आजीविका अन्य सब आजीविकाओ से हेय थी। जापानी खतरे ने आजीविकाओ के इस मूल्य मे परिवर्तन कर दिया है, मुझे आशा है कि वह परिवर्तन अस्थायी होगा। एक चीनी कहावत देखिये—"अच्छे लोहे का प्रयोग कीले बनाने मे नही किया जाता और न अच्छे मनुष्यो का प्रयोग उन्हे सिपाही बनाने में।" श्री मो त्सू ने सभी आक्रमणकारी युद्धो की निन्दा की है और विश्वव्यापी निःशस्त्रीकरण को प्रोत्साहन दिया है। श्री पो चुई ने एक कविता लिखी थी जिसका अनुवाद श्री वैली ने किया है, इस अनुवाद का शीर्षक है 'छिन्न-बाहु वृद्ध' (The Old Man with the Broken Arm) और इसमें एक

ऐसा कुछ नही करेगे जिससे आपकी इस अमूल्य विरासत को कुछ भी धक्का लगे, मुझे विश्वास है कि आप कभी भी नैतिक मूल्यो की कल्याण-क्षमता पर अपना विश्वास नही खोयेगे, कभी भी आप सैनिकवाद के शिकार होकर यह नही कहेगे 'बुराई तू ही मेरा मगल बन', क्योकि वह चीन को सबसे बडी पराजय होगी। दारिद्रय, सकट और दीनता की इस सबसे कठिन घडी में ससार को एक नवीन आशा दिलाना पूर्व का ही काम है।

ऐसे रगरूट को वीर नायक बनाया गया है जिसने सैनिक सेवा से बचने के लिए अपने आपको अपगु बना लिया (A Hundred and Seventy Chinese Poems, E T. by Waley (1923), पृष्ठ १३९-४१)। चीन ही एक ऐसा अकेला देश रहा है जहाँ राजा या सम्राट् सैनिक पोशाक नही पहनते थे। शान्तिवाद चीन की प्रकृति में जडे जमाये है, यद्यपि यह नही कहा जा सकता कि अपने लम्बे इतिहास में चीन निरन्तर अविच्छिन्नरूप से उसका पालन करता रहा है। चीन की महान् दीवार स्वय इस बात का प्रमाण है कि अविरत सघर्ष होते रहे है। जब श्री कन्फ्यूशियस से बुराई के बदले भलाई करने के प्रसिद्ध सिद्धान्त के सम्बन्ध मे पूछा गया तो उन्होने कहा—"तो फिर भलाई के बदले क्या किया जायगा? ज्यादा अच्छा होगा कि आप अन्याय के बदले न्याय और भलाई के बदले भलाई करें।"—The Sayings of Confucius, by Giles (1924), पृष्ठ ६७।

३

चीन के शिक्षा-आदर्श

शिक्षा का महत्त्व

अपने इतिहास के प्रारम्भ मे ही चीन-वासियो ने सामाजिक व्यवस्था और उत्थान के लिए शिक्षा के महत्त्व पर जोर दिया है। मनुष्य यदि अपने स्वभाव और गरिमा के अनुकूल अपना जीवन बिताना चाहे तो शिक्षा ही उसे इसके योग्य बना सकती है। समाज की युक्ति-युक्त व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति है। और उस व्यवस्था का विकास पारिवारिक जीवन, राजनीतिक शासन और विश्व-बन्धुत्व में होता है, रक्त-सम्बन्ध और आन्तरिक मानव-सद्भावना के कारण परिवार के सगठन में जो तत्त्व सहज जान पडता है उसी का विकास शनै-शनै वृहत्तर सगठनो में शिक्षा के द्वारा होता है।

चीन में शिक्षा को अपनी जीविका बनानेवाले प्रथम व्यक्ति थे श्री कन्फ्यूशियस। उन्होने परिव्राजक-आचार्य की परम्परा स्थापित की। समाज के सभी वर्गो तथा सभी स्तरो के लोगो को उन्होने अपना शिक्षार्थी बनाया। प्राचीन चीन में सम्मान न पुरोहित का होता था, न सैनिक का, न शारीरिक श्रम करनेवाले का और न अधिकारी वर्ग का, सम्मान होता था आचार्य का, शिक्षक का। मनीषी या पडित का यह सम्मान---समाज के शीर्ष स्थान में उसकी प्रतिष्ठा---चीनी सभ्यता की

प्रधान विशेषता है। राजकीय पदो के लिए उच्च ग्रन्थो में परीक्षा लेकर चुनाव करने की परम्परा ने ज्ञान के प्रति सम्मान की भावना व्यापक और दृढ बना दी और वशानुगत कुलीनता का विकास न होने दिया।

रेशम रँगनेवाले रगरेज को अपना काम करते देख श्री मो-त्सू[१] ने उसाँस भरी और कहा—"जो कुछ नीले रग मे डुबो दिया जाता है, नीला हो जाता है, जो कुछ पीले रग में डुबो दिया जाता है, पीला हो जाता है, जब रेशम को किसी दूसरे रग मे रँगा जाता है तो वह दूसरा हो जाता है, पाँच वार रँगे जाने पर वह पाँच वार अपना रग बदलता है, इसलिए रँगने का काम बडी सावधानी के साथ किया जाना चाहिए।' मनुष्य की प्रकृति शुद्ध श्वेत रेशम की तरह है और हम उसको कौन-सा रूप देने जा रहे है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह किस रग में रँगा जाता है। शिक्षा-यन्त्र और रेडियो तथा छापेखाने आदि के आधुनिक यन्त्रो के प्रयोग से हम एक नितान्त नवीन मानव-कोटि का निर्माण कर सकते है। यूनान के लोग शिक्षा का उपयोग नागरिक गुणो के विकास में करते थे, रोम के लोग शिक्षा का उपयोग राष्ट्र-निष्ठा और आज्ञानुवर्तन की भावनाये उत्पन्न करने में। सोवियत रूस अपने युवको को एक वर्गविहीन समाज के लिए शिक्षित करता है और नाज़ी जर्मनी जर्मन-आधिपत्य और नार्डिक जाति की सर्वप्रभुता के आदर्शो के लिए। एक असत् शिक्षा के प्रयोग से हम नवयुवको को उनकी सत्य प्रकृति से दूर ले जाकर, प्रलोभन देकर, उन्हें अमानवीय कृत्यो में आनन्द लेने के लिए तैयार करते है। जाति-द्वेष,

---

[१] Ch III

विदेशियो से अरुचि, विनम्र लोगो से घृणा और गुण्डो का समादर सब असद्शिक्षा के परिणाम है।

मानव-प्रकृति

यदि हम मनुष्यो को विकृत और अप्राकृतिक न बनायें तो स्वभावत वे सद्गुणशाली होगे। श्री लाओ-त्सू कहते है--"महोदय, आप पहिले अपनी प्रवृत्तियो को मुक्त कीजिए और धर्म (ताओ) का अनुसरण कीजिये। इतना ही पर्याप्त है। तो फिर पवित्रता और मानव-हृदयता के पीछे इतने व्यर्थ के संघर्ष क्यो मानो किसी बच्चे की खोज में ढोल बजाया जा रहा है? बडे खेद की बात है महोदय, आपने मनुष्य की मौलिक प्रकृति को अस्त-व्यस्त कर दिया है।" स्वभावत मनुष्य की प्रेरणा धार्मिक बने रहने की होती है और यदि इस स्वाभाविक प्रवृत्ति में हस्तक्षेप न किया जाय तो सब ठीक-ही ठीक रहे। श्री मेन्शियस कहते है—"सद्वृत्तियो की ओर मानव-प्रकृति की उठान ठीक वैसी ही है जैसी जल की प्रवृत्ति प्रवाह की ओर। जल में चोट मारकर उसे उछालकर आप अपने मस्तिष्क पर ला सकते है, बाँध बनाकर ऊपर चढाकर आप उसे पहाडी पर ले जा सकते है, लेकिन जल की यह ऊर्ध्वगति उसकी स्वाभाविक गति के अनुरूप नही है। इस गति का कारण है वह शक्ति जो आप लगाते है। जब मनुष्य ऐसे काम करते है जो भले नही है तब उनकी प्रकृति के साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार या हस्तक्षेप किया गया होता है।" सद्गुण मनुष्य के लिए आकस्मिक और अनित्य नही है, दुष्टता है। श्री कन्फ्यूशियस ने हमें बताया है—"अपनी मूल प्रकृति में मनुष्य एक-दूसरे से बहुत अधिक मिलते-जुलते

है। अपनी अर्जित आदतो में वे एक-दूसरे से बहुत दूर चले जाते है।"[१] श्री मेन्शियस कहते है--"यदि मनुष्य दुष्ट हो जाता है तो यह उसके मौलिक गुणो का दोष नही है। कृपा-करुणा की भावना सभी मनुष्यो में पाई जाती है, आदर-सम्मान की भावना सभी मनुष्यो में पाई जाती है, सत्-असत् की भावना सभी मनुष्यो मे पाई जाती है। कृपा-भावना वह है जिसे हम उदारता या दानशीलता कहते है। लज्जा की भावना वह है जिसे हम न्याय और धर्म की भावना कहते है। आदर की भावना वह है जिसे हम सद्व्यवहार कहते है। सत्-असत् की भावना वह है जिसे हम विवेक या नैतिक चेतना कहते है। उदारता, न्याय व धर्म-निष्ठा, सद्व्यवहार और नैतिक चेतना ऐसी वस्तुयें नही है जो हमारे भीतर बलात् ऊपर से लादी जाती हो, वे मूलत हमारे साथ वर्तमान है, हम केवल उन्हें प्राय भूल जाते है। इसीलिए कहा गया है--'खोजो और तुम उसे पाओगे, उसकी ओर से असावधान रहो तो उसे खो दोगे।'"[२] इस प्रश्न का कि जब हम सभी मनुष्य है तो ऐसा क्यो है कि कुछ बड़े आदमी है, कुछ छोटे, श्री मेन्शियस ने यह उत्तर दिया है--"जो अपनी महत्ता के प्रति सजग रहते है वे महान् व्यक्ति हो जाते है और जो अपनी लघुतर सत्ता के प्रति सजग रहते है वे छोटे आदमी बन जाते है।"[३] वे यह बात स्वीकार करते है कि "हमारे निर्माण में एक उच्चतर और एक निम्नतर प्रकृति है, एक लघुतर और एक महान् आत्म-तत्त्व है। अपनी उच्चतर प्रकृति की अवहेलनाकर मनुष्य को अपनी निम्न प्रकृति का विकास नही करना चाहिए, अपने महान् आत्म-तत्त्व को भुलाकर

---

[१] Lun Yu, XVII 2
[२] Mencius, VI I.
[३] Ibid

लघुतर आत्म-तत्त्व को विकसित करने का प्रयत्न नही करना चाहिए।"[1] हम अपने उन गुणो का विकास नही करते जो मानव की अपनी विशेषतायें है—मैत्री, करुणा, निर्दयता से घृणा—और उन प्रवृत्तियो का विकास करते है जिनमें हम पशुओ के समान है--लोभ, आतक, निर्दयता, और इस प्रकार नर-पशु वन जाते है। १६ फरवरी, मन् १९३९ को रिवरसाइड चर्च में उपदेश देते हुए डाक्टर हैरी इमरसन फाजडिक ने कहा था--"इस दृष्टि से हम मनुष्य कुत्तों से कितना मिलते-जुलते है! क्योकि जब एक कुत्ता भौंकता है तो उसके उत्तर में दूसरा भौंकता है और तब पहला और जोर से भौंकता है और दूसरा उससे भी ज्यादा जोर से और इस प्रकार वैमनस्य का यह ज्वर ऊचे उठता जाता है। इसी लिए एक व्यक्ति ने अपने टेरियर (शिकारी कुत्ता) के व्यवहार को दूसरे टेरियर के मालिक के सम्मुख उचित सिद्ध किया। उसने कहा--'आखिरकार कुत्ता भी तो मनुष्य ही जैसा है!'" सम्भवत हम लोग पशुओ के प्रति ठीक-ठीक न्याय नही करते। यदि वे हत्या करते है तो तभी करते है जब वे भूखे होते है या जब उन पर आक्रमण किया जाता है। वे भाव-शून्य कारणो से दूसरो को चोट पहुँचाने या उनकी हत्या करने में मजा नही लेते। यदि हम आज एक पागल कुत्तो के ससार में रह रहे है जो अपनी आत्मघाती बर्बरता से ही बद्ध और उसी का बन्दी है तो इसके लिए बहुत अशो तक हमारी शिक्षा ही उत्तरदायी है।

श्री मेन्शियस कहते है—"मनुष्य पक्षियो से और पशुओ से जिस बात में भिन्न है वह बहुत हल्की-सी बात है। अधिकाश मनुष्य इस अन्तर को भी बहा देते है, केवल कुछ उच्चकोटि के मनुष्य उस अन्तर

---

[1] Mencius, VI I

को सुरक्षित रखते है।"[1] मनुष्य को अन्य जीवो से पृथक् रखनेवाली उसकी ऐन्द्रिय भूख और पिपासा नही है, यह तो अन्य जीवो में भी सामान्य है, यह अन्तर है मनुष्य में भलाई की ओर प्रवृति, धर्म का प्रेम। श्री अरस्तू का कहना है कि भूख और इच्छाये तो मनुष्यो और पशुओ में एक-सी है। मनुष्य को पशु से उच्च बनाती है उसकी तर्क या विवेक शक्ति। श्री मेन्शियस कहते है कि "मस्तिष्क का गुण है विचार।" उन्होने मनुष्य की स्वाभाविक सद्वृत्ति का दृष्टिकोण प्रसारित किया था, यह मान्यता कि मनुष्य अपने सहजीवियो का कष्ट नही देख सकता। कष्ट में पडे जीव की सक्रिय सहायता करना एक ऐसी इच्छा है जो हर अविकृत मानव-हृदय में उपस्थित रहती है। भलाई के अकुरो का विकास करना मनुष्य बनना है, उन अकुरो को मुरझाने और मर जाने देना मनुष्य से निम्न बनना है। जहाँ एक ओर श्री मेन्शियस ने मनुष्य की अन्तर्गूढ भलाई की बात कही है वहाँ श्री हून-त्सू ने ठीक इसकी उलटी बात कही है, मनुष्य की तत्वत बर्बर प्रकृति पर ज़ोर दिया है।[2] मनुष्य नैतिकता के नियमो का अभ्यास करने से ही धार्मिक बन सकता है। नैतिकता मनुष्य के स्वाभाविक विकास का परिणाम नही है। अपनी प्रवृत्तियो के विरुद्ध निरन्तर सघर्ष करते रहने से नैतिकता प्राप्त होती है। सद्वृत्ति एक ऐसा गुण है जो मनुष्य पर ऊपर से लादा जाता है।[3] इस विवाद की प्रतिमूर्ति

---

[1] Mencius, IV. b 19

[2] इसकी बायरन के कथन से तुलना कीजिये--"मनुष्य एक दो पैरोवाला विषैला जीव है जो बहुत चालाक है।"

[3] श्री याग सियंग का मत था कि सत्य इन दोनो सिद्धान्तो के बीच में है। मनुष्य का स्वभाव नैतिक दृष्टि से तटस्थ है और सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि शिक्षा उसके लिए क्या करती है।

ईसाई-धर्म में हमें उस विवाद में मिलती है जो सन्त आगस्टाइन और पेलॉजियम के बीच चला था और जिसमें चर्च ने यह निर्णय दिया था कि मनुष्य को स्वभावत भला माननेवाला विचार एक किंवदन्ती है। सन्त आगस्टाइन के वाद यही निर्णय ईसाई योरोप का प्रधान सिद्धान्त वन गया।

मनुष्य के स्वभाव में एक ऐसा मूल पदार्थ सम्मिलित है जिसके साझीदार पशु भी है। लेकिन मनुष्य को एक ऐसी शक्ति भी प्राप्त है कि उस पदार्थ को एक ऐसे गुण—ऐसी विभूति—से सम्प्रेरित कर दे जो उसके विशिष्ट स्वभाव की विशेपता है। जब श्री कन्फ्यूशियस यह कहते है कि हमें जेन, भ्रातृ भावना और हार्दिक मानवता प्राप्त करना चाहिए, जब भगवान् बुद्ध हमारे सामने प्रज्ञा अथवा ज्ञान और मैत्री के आदर्श रखते है, जब श्री लाओ त्सू हमें आदेश देते है कि अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियो को मुक्त करके हम अपने अस्तित्व के विधान के अनुकूल वनें और जब श्री मेन्शियस हमसे अपने भीतर के मनुष्य का विकास करने को कहते है तब इन सबका यही कहना होता है कि हम अपनी उच्चतर प्रकृति का विकास करके अपने सगी मानव-समाज के साथ शाति और प्रेम पूर्वक रहने में समर्थ होते है।

परम्परा की शक्ति

युगो से चीन परम्परा की शक्ति पर विश्वास करता आ रहा है।[१]

---

[१] अपने एकान्त एकाकीपन को पूर्ण करने के उद्देश्य से चीन का महान् प्रयत्न महान् दीवाल वनाने में व्यक्त हुआ जिसे सम्राट् चिन शी ने दो हजार वर्ष से भी पहिले वनवाया था और जो समुद्र से लेकर तिव्वत की सीमा तक एक दुर्ग-प्राचीर की भाँति फैली है, यद्यपि कई वार इस दीवाल का पुनर्निर्माण और विस्तार भी किया गया है।

चीन के महान मनीषी नेता श्री कन्फ्यूशियस को पुराने तरीके पसन्द है, वे पुराने ग्रन्थो का अध्ययन करते है, प्राचीन विधियो और रीतियो का पालन करते है और अतीत शक्तियो को स्वायत्त करने का प्रयत्न करते है क्योकि उन्हें विश्वास है कि वही शक्तियाँ भविष्य का भी शासन करती है। उनकी दृष्टि में मनुष्य का सबसे महान् गुण है अतीत के प्रति सम्मान वृद्धो के सम्मुख विनम्र श्रद्धा। श्री मेन्शियस कहते है—"पूर्वशासको के विधानो का अनुसरण करो तो यह असम्भव है कि तुम गलती करो।"[1] परम्परा परम सिद्धान्त है और इसीलिए कन्फ्यूशियस की शिक्षा-प्रणाली स्थायी रह सकी है। हजारो वर्षो तक अनन्तर कलह और अशान्ति रहने पर भी परम्परा की अविच्छिन्नता नष्ट नही होने पाई। अतीत रीतियो और परम्पराओ की स्मृतियाँ चीन के आधुनिक जीवन मे भी सबल है। चीनी सभ्यता के तात्त्विक नैतिक अश उसके बाहरी ढाँचे की अपेक्षा अधिक दृढ सिद्ध हुए है, उसकी मानवतावादी सस्कृति प्रस्तर और ताम्र की अपेक्षा अधिक स्थायी सिद्ध हुई है।

परम्परा-शासन के विरुद्ध आवाज भी उठाई गई है। सम्राट् श्री हुआग-ती जो २२१ ई० पू० मे समूचे साम्राज्य के अधिपति बन गये थे और जिनकी २१० ई० पू० में मृत्यु हुई थी, चीन के प्रथम महान सम्राट् माने जाते है। वह न केवल चीन की महान दीवाल बनवाने और सामन्तवाद समाप्त करने के लिए प्रसिद्ध है बल्कि ग्रन्थो के जलाने के लिए भी प्रसिद्ध है।[2] उन्होने पुस्तको को इसलिए जलवाया ताकि उन्हें कोई इस बात का स्मरण न दिला सके कि उनके शासन-

---

[1] Mencius, IV 1 I

[2] यद्यपि उनका राज्य उनके पुत्र के साथ समाप्त हो गया, परन्तु चीन शब्द उनके परिवार के नाम त्सिन या चिन मे उद्भूत हुआ है।

काल मे पहिले भी चीन की स्थिति थी और इसलिए भी कि वह उन शिक्षित व्यक्तियो का प्रभाव समाप्त करना चाहते थे जो परम्परा के नाम पर सभी सुधारो का विरोध करते थे। लेकिन उन्होने भी उन किताबो को जलाने से बचा दिया जिनका सम्बन्ध आयुर्वेद और ओषधि-निर्माण, ज्योतिष, कृषि और वनस्पति-शास्त्र से था। उन्हें वह विषय प्रिय थे जिनकी तात्कालिक व्यावहारिक उपयोगिता थी। उनके दृष्टि-कोण से हमें एक शिक्षा मिलती है, यह कि परम्परा का उपयोग सुधार का बाधक बनाकर नही करना चाहिए। जब परम्परा यान्त्रिक बन जाती है तब उसकी आत्मा मर जाती है।

यद्यपि श्री कन्फ्यूशियस ने सामन्तवाद का समर्थन किया था फिर भी सामन्तवाद का विनाश होने पर कन्फ्यूशियसवाद को हानि नही पहुँची। अपने युग की भावना के अनुकूल श्री कन्फ्यूशियस स्त्रियो को एक पराधीन जाति समझते थे। लेकिन स्त्रियो की वर्तमान मुक्ति श्री कन्फ्यू-शियस की भावना का उल्लघन नही मानी जाती। जो समाज स्थिर-जड नही है उसमें अनेक परिवर्तन करने ही होगे। परिवर्तन के लिए प्रस्तुत रहना जीवित सगठन का लक्षण है, और परिवर्तन का प्रतिरोध पतन की निशानी है। "जब जन्म होता है तब मनुष्य कोमल और दुर्बल रहता है, मृत्यु में वह सख्त और कठोर हो जाता है।"[1] जब हम जीवित रहते है तब कोमल और नमनशील होते है। जब कठोर पडते है तो मृत्यु का आलिंगन करते है। "अति बुद्धिमान् और अति मूर्ख ही कभी बदलते नही है।"[2] श्री कन्फ्यूशियस का सिद्धान्त अपने आपको आधुनिक परिस्थितियो के अनुकूल बनाने में पर्याप्त नमनशील है। पैरो का बांधना और बालो को

[1] Tao Te Ching, LXXVI
[2] Analects, XVII 3

चोटियाँ रखना समाप्त हो गया है और अन्य अनेक अन्धविश्वास भी समाप्त हो जायँगे।

विज्ञान की आवश्यकता

प्रारम्भ से ही चीन के लोग नवीन विचारो के प्रति उदार रहे है और नई अपेक्षाओ के अनुकूल वदलते गये है। विदेशियो के विरुद्ध उन्होने निषेध-प्राचीरें नही खडी की है, वल्कि उन्मुक्त हृदय और मस्तिष्क से उनका स्वागत किया है। पाश्चात्य विज्ञान और यत्र-कौशल द्वारा उन्होने अपने आपको परिवर्तित और निर्मित होने दिया है। चीन की शिक्षा का उद्देश्य था मानव-समाज की एक आदर्श स्थिति प्राप्त करने की व्यावहारिक समस्या को हल करना, न कि प्रकृति के वाह्य पदार्थ-स्वरूप का अध्ययन। साहित्यिक परीक्षायें ही जन-सम्मान और राजनीतिक पदाधिकार-प्राप्ति का एकमात्र साधन थी, और इन परीक्षाओ ने चीन के लोगो में एक प्रधानत सैद्धान्तिक अभिरुचि उत्पन्न कर दी।[१] लेकिन ज्ञान केवल साहित्यिक ही नही है,

[१] जो चार पुस्तकें चीनी शिक्षा का आधार और चीनी चरित्र की विधायक शक्तियाँ रही हैं वे हैं—दि ग्रेट लर्निग दि डाक्ट्रिन आफ़ दि मीन, अनालेक्ट्स और मेन्शियस। कन्फ्यूशियस के विद्यालयो मे जो छ पुस्तके पढाई जाती थी उन्हें श्री चुआग त्सू (Ch XXXIII) ने इस प्रकार गिनाया है—"(१) दि शिह, जिसमें उद्देश्य वर्णित है, (२) दि शू, जिसमें घटनायें वर्णित है, (३) दि ली, (धार्मिक पूजाये) जिसमें आचार-सम्वन्धी आदेश है, (४) दि यूह (सगीत), जो समन्वय स्थापित करता है, (५) दि आई (परिवतन-सम्वन्धी ग्रन्थ), जिसमे यिन और याग के सिद्धान्तो की चर्चा है और (६) चुन चिऊ, जिसमे विभेदो और कर्तव्यो का वर्णन है।"

वह वैज्ञानिक भी है। प्रारम्भिक दिनो से ही केवल साहित्यिक शिक्षा-विधि के विरुद्ध विरोध प्रदर्शित किया जाता रहा है। श्री चुआग त्सू ने कठोर आघात किये हैं—"आप तो केवल शब्द व्यवसायी हैं जो सम्राट् वेन और सम्राट् वू के सम्बन्ध में अर्थहीन बकवाद करते हैं। (सम्राट् वेन और वू चाऊ-राजवश के प्रतिष्ठाता थे।) आपके पास शब्द बहुत से हैं जो भ्रम उत्पन्न करते हैं। आप कपडे सिलते नही है और फिर भी सिले कपडे पहनते है, आपके होठ बडबडाते हैं और आपकी जबान कैंची-सी चलती है और आप अपनी कल्पना के सत्-असत् की सृष्टि करते हैं जिसके द्वारा ससार के शासको को गलत रास्ता बताते है और विद्वानो को पदार्थो और समस्याओ के मूल तत्त्वो तक पहुँचने से विमुख करते है।" श्री चेंग-यी और श्री चू-सी के मत में प्रकृति के पदार्थमूलक शोध का महत्त्व सिखाया जाता था। लेकिन, चूंकि प्रकृति के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करने की कोई परम्परा नही रही, इसलिए, यह विषय प्रधान शोध-प्रणाली मानव-स्वभाव और इतिहास के अध्ययन तक ही सीमित रही।

भारत की भाँति चीन को भी विज्ञान और यन्त्र-कौशल की ओर अधिक ध्यान देना होगा। हमें अच्छी सडको और रेलो की आवश्यकता है, अधिक फैक्ट्रियो और मशीनो और बिजली के व्यापक प्रयोगो की जरूरत है। अपने भोजन और स्वास्थ्य, रोज़ी-रोज़गार और सुरक्षा की समस्याओ से निपटने के लिए और मानव-समाज की वह परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए जिनसे जीवन अधिक ग्राह्य बन सके चीन को विज्ञान का पूरा-पूरा प्रयोग करना होगा। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई है कि आज आपके विद्यालय केवल अतीत-ज्ञान की शिक्षा के ही केन्द्र नही है, वे आधुनिक विज्ञान और यन्त्र-कला के भी शिक्षा-केन्द्र है।

ज्ञान-पिपासु

श्री कन्फ्यूशियस ने हमें शिक्षा के वे सिद्धान्त बताये है जो आज भी उतने ही सत्य-स्वस्थ है जितने वे स्वय उनके समय मे थे। सत्य की खोज एक बौद्धिक प्रक्रियामात्र नही है। उसकी सफलता के लिए बौद्धिक सजगता और सबलता तथा मस्तिष्क की धारणा-शक्ति ही नही पर्याप्त है, उसके लिए माया-जाल और बाधाओ से मुक्ति, स्वस्थ विवेक, विनम्रता और सत्यनिष्ठा की आवश्यकता है। सत्यान्वेषी के लिए ईर्ष्या-द्वेष-विमुक्त होना आवश्यक है। श्री कन्फ्यूशियस के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह "चार चीजो से नितान्त मुक्त थे--उनकी कोई पूर्व-धारणायें नही थी, कोई पूर्व-निश्चय नही थे, हठ नही था और कोई अहभाव नही था।"[१] विनम्रता सत्यान्वेषी की विशेषता है। "साहित्य के क्षेत्र में तो सम्भवत मैं दूसरो के साथ अपनी तुलना कर सकूँ पर यदि भद्र जीवन बिताने की बात हो तो वह मै अभी प्राप्त ही नही कर पाया।"[२] और भी "जहाँ तक सन्त या विभूति-सम्पन्न व्यक्ति होने की बात है, भला मै ऐसा दावा करने की हिम्मत कैसे कर सकता हूँ? लेकिन अगर ऐसा जीवन प्राप्त करने के लिए अथक प्रयत्न की बात हो और निरन्तर दूसरो को उसके सम्बन्ध में उपदेश देने की बात हो तो यह बात मेरे सम्बन्ध में कही जा सकती है और इतना ही अलम् है।"[३] यह कथन हमें भगवान् बुद्ध की याद दिलाता है जिन्होने सारिपुत्त को इसलिए डाटा था कि वह उन्हें ससार का सबसे महान् व्यक्ति मानते थे।

---

[१] Analects, IX 4
[२] Ibid , VII 22
[३] Ibid , VII 23.

सारिपुत्त ने कहा था—"देव! मुझे ऐसा विश्वास है कि मेरी समझ में तथागत से महान् या अधिक बुद्धिमान् न कभी कोई हुआ था, न होगा और न आज है।" "बेशक सारिपुत्त"—भगवान् ने उत्तर दिया, "अतीत के सभी बुद्धों को तो तुम जानते ही हो?" "नहीं, देव।" "अच्छा तो भविष्य में होनेवाले बुद्धों को तो तुम जानते ही हो?" नहीं, देव।" "अच्छा तो कम-से कम मुझे तो जानते ही हो और मेरे मन-मस्तिष्क के अन्तर्तम तक तुम्हारी पहुँच हो ही चुकी है?" "नहीं, देव। यह भी नहीं।" "तो सारिपुत्त फिर क्यों तुम्हारे शब्द इतने साहसपूर्ण और उदार हैं?"[१] अनुशासन और उग्र भावों का नियन्त्रण एक सच्चे विद्यार्थी के लक्षण हैं। श्री कन्फ्यूशियस ने कहा था—"जो विद्वान् भोजन में बुभुक्षा की तुष्टि नहीं खोजता, अपने आवास में शरीर-सुख नहीं खोजता, अपने कर्म में जो परिश्रमी है, वाणी में संयमी है, उच्च विचारशील व्यक्तियों से जो सत-संग करता है और इस प्रकार अपने को सत्पथ पर ले चलता है ऐसे ही व्यक्ति को सचमुच ज्ञान-लोभी कहा जाता है।"[२] ईमानदारी, उदारता और सत्य-प्रेम में उसका विकास होता है। श्री मेन्शियस के उस महान् उद्धरण को देखिये जिसमें यह कहा गया है कि वाह्य विफलता से घनी अन्तर्विभूति प्राप्त होती है—"इस प्रकार जब परमात्मा को किसी व्यक्ति को महान पद देना होता है तो पहिले वह उसके मस्तिष्क को दुःख से और उसके अंगों और अस्थियों को परिश्रम से कसता है। वह उसके शरीर को भूखा रखता है, उसे आत्यन्तिक दीनता का शिकार बनाता है। उसके कामों को अस्त-व्यस्त कर देता है। इन सब विधियों से वह उसके मस्तिष्क को बल देता है, उसके स्वभाव को दृढ बनाता

---

[१] महापरिनिब्बाण सुत्त, १ ६१.
[२] Analects

है और उसकी अपूर्णताओ को पूर्ण करता है। इस प्रकार हम समझ सकते है कि कैसे दु ख और आपत्ति से जीवन का उल्लास फूटता है और कैसे सुख और सुविधा से मृत्यु आती है।"[१]

एक सच्चे शिक्षक को जिज्ञासु भी होना चाहिए। उसे "(अध्ययन में) अथक आयास करना चाहिए और दूसरो को (अनवरत) शिक्षा देनी चाहिए।" आधुनिक भाषा में कहे तो श्री कन्फ्यूशियस ने हमारे सामने शिक्षा और अनुसन्धान के दो आदर्श रखे है। ज्ञान का विकास उतना ही आवश्यक है जितना उसका प्रसार। विद्यार्थियो को न केवल अतीत ज्ञान का प्रसारक बनना होगा बल्कि नवीन ज्ञान का शोधक भी। श्री कन्फ्यूशियस स्वय एक जिज्ञासु अन्वेषी है। वे ऐसे है जो "जन्मना सत्य ज्ञानी नही है बल्कि जो सत्यान्वेषण में अथक परिश्रमी है। दस परिवारो के किसी भी पुरखे में आपको ऐसे धर्मात्मा और ईमानदार व्यक्ति कुछ मिल जायँगे जैसे वे स्वय थे, पर उनका-सा ज्ञान-लोभी एक भी न मिलेगा।" उन्हें केवल एक ही महान् पश्चात्ताप हो सकता था—"अपने अध्ययन की उपेक्षा।" वे हर किसी से सीखने के लिए प्रस्तुत थे। "यदि मै दो व्यक्तियो के साथ चल रहा हूँ तो उनमें से हरएक मेरे लिए शिक्षक का काम दे सकता है। मै उनमें से एक के सद्गुणो को चुन लूँगा और उनका अनुकरण करूँगा, दूसरे के दुर्गुणो को देखूँगा और उनसे अपना सुधार कर लूँगा।"[२] "विचार-शून्य ज्ञान व्यर्थ है, ज्ञान-शून्य विचार घातक है।"[३] जब श्री कन्फ्यूशियस से एक शिक्षित व्यक्ति की विशेषता बतलाने को कहा गया तो वे बोले—"जो जानते हो

---

[१] VI 2 15

[२] Giles The Sayings of Confucius (1924), पृष्ठ ८६।

[३] II 15

जानो, और जानो कि जो नही जानते वह नहीं जानते--जो जानता है उसका यही लक्षण है।"

अपने अध्ययन से हमें तात्कालिक लाभ की आशा नही करनी चाहिए। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में शुद्ध गणित के लिए एक परम्परागत टोस्ट—शुभकामना की प्रथा है--"परमात्मा करे वे सदैव व्यर्थ बने रहें'।" हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अध्यक्ष श्री लावेल ने एक बार विश्वविद्यालय की परिभाषा बताते हुए उसे एक ऐसा स्थान कहा था जहाँ कुछ भी उपयोगी नही पढाया जाता। जो लोग रोज़गारी शिक्षाओ को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते है, जो साहित्य की शिक्षा को टाइप करने की शिक्षा के समान समझते है, उन्ही लोगो की तीव्र भर्त्सना श्री लावेल के इस वार का लक्ष्य है। जिनका तात्कालिक व्यावहारिक उपयोग नही है वे विषय भी उपयोगी है। व्यावहारिक बुद्धिवाले श्री हूई त्सू ने जब श्री चुआग त्सू से कहा--"आपके उपदेशो का कोई व्यावहारिक उपयोग नही है" तो उन्होने उत्तर दिया--"उपयोगी पदार्थो के सम्बन्ध में उन्ही से बात की जा सकती है जो अनुपयोगी वस्तुओ का मूल्य महत्त्व पहिले समझ चुके हो। यह धरती, जिस पर हम-आप चलते है, विशाल है लेकिन फिर भी चलने में मनुष्य अपने पैरो के नीचे आनेवाली नपी-तुली धरती के अलावा शेष का उपयोग नही करता। लेकिन कल्पना करो कि उसके पैरो के आस-पास की सारी धरती पाताल की गहराई तक खोद डाली जाय तो क्या पैरो के नीचे बचे हुए धरती के टुकड चलने में उसके काम आ सकेंगे?" श्री हूई त्सू ने कहा--"वे तो व्यर्थ होगे।" श्री चुआग त्सू ने कहा--"तो फिर अनुपयोगी की उपयोगिता स्पष्ट है।"[1]

---

[1] Waley Three Ways of Thought in Ancient China (1939), पृष्ठ १७।

इस सबसे हमें यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि श्री कन्फ्यूशियस द्वारा निर्धारित शिक्षा-प्रणाली व्यावहारिक आवश्यकताओ से असम्बद्ध थी। उसका लक्ष्य एक आलसी वर्ग शिक्षित करना नही था, वल्कि व्यस्त राजकर्मचारियो का वर्ग तैयार करना था। कुशल यत्र-कलाविदो की सृष्टि करनेवाली वैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली का व्यावहारिक उद्देश्य निस्सदेह वे नही सोच पाये थे, लेकिन यह उनका नही उनके युग का दोष है।

अपने विद्यार्थियो को भरती करते समय श्री कन्फ्यूशियस किसी प्रकार के वर्ग-विभेद को नही अपनाते थे। इसके अतिरिक्त वे अपने विद्यार्थियो की सत्यनिष्ठा और क्षमता की जॉच करते थे। "जो सत्यनिष्ठ नही है उसे मै कुछ नही समझाता, जो आत्म-प्रकाश का इच्छुक नही है, मै उसकी सहायता नही करता। जब मैने एक कोण प्रदर्शित कर दिया और विद्यार्थी शेष तीन कोण नही निकाल सकता तो फिर मै अपना पाठ नही दुहराता।"[१]

हमारी शिक्षा द्वारा ऐसा कुछ नही होना चाहिए जो मानव-भावना को छिन्न-भिन्न कर दे। निर्वन्ध निर्भय मानव-वुद्धि की निर्देशिका शक्ति को कुठित नही करना चाहिए। शिक्षा के नाम पर हम मानव-कर्तृत्व को भ्रष्ट कर देते है और ज्ञान-स्रोतो को सुखा देते है। एक महान् शिक्षक अपने शिष्य को वह सव कुछ स्पष्टरूप से सिखा देता है जो समस्त पूर्व-चिन्तित ज्ञान-राशि में सर्वोतम है, पर उस पर विचार करने और अपना निर्णय निर्धारित करने का काम वह शिष्य पर ही छोड देता है। "यथा-इच्छसि, तथा कुरु"[२], जैसी इच्छा हो, करो। प्रत्येक आत्मा का अपना

---

[१] Analects, VII 8

[२] भगवद्गीता, १८, ६३

एक आच्छादन है, वह आच्छादन हमें हटाना नहीं चाहिए। श्री कन्फ्यूशियस का भी ऐसा ही दृष्टिकोण है। "अत अपनी शिक्षाओं में महत्तर मानव अपने शिष्यों का मार्ग-दर्शन तो करता है पर वह उन्हें खींचकर आगे अपने रास्ते पर नहीं लाता, वह उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है, उनकी प्रेरणा को दबाता नहीं, वह रास्ता दिखा देता है, पर लक्ष्य तक घसीटकर नहीं ले जाता।" चीनी लोग नैतिक उत्तरदायित्व की भावना के महत्त्व पर बहुत जोर देते हैं, वह भावना, जिसे वे चुग कहते हैं, पदार्थों की एक ऐसी महिति की भावना है जो मनुष्य को अपने आत्मादेशों के पालन के लिए विवश करती है। प्रजातन्त्र मानव-आत्मा और उसकी गरिमा के प्रति सम्मान है। प्रजातन्त्र दीन और त्रस्त के प्रति भावनात्मक सहानुभूति नहीं है और न वह सर्वहारा की तानाशाही और जीवन के सभी क्षेत्रों पर शासक वर्ग का नियन्त्रण है।

एक शिष्य ने श्री कन्फ्यूशियस से पूछा कि यदि उन्हें किसी राज्य का शासन-कार्य सौंप दिया जाय तो वे सबसे पहिला काम क्या करेंगे। उन्होंने उत्तर दिया—"नामों की शुद्ध सटीक परिभाषा देना,"[1] शब्दों के अर्थ निश्चित करना। शब्दों को स्पष्ट सुनिश्चित अर्थ देने की यह पद्धति ठोस मानव-सम्बन्धों में काम आती है। जहाँ और जब शासक शासक रहता है, मन्त्री मन्त्री रहता है, पिता पिता रहता है और पुत्र पुत्र, वहीं सत्शासन होता है। समाज एक दैवी सृष्टि है, दैवी आदेश है जो पाँच सम्बन्धों पर आधारित है—(१) शासक और शासित, (२) पति और पत्नी, (३) पिता और पुत्र, (४) अग्रज और अनुज या बड़े भाई और

[1] Analects, XIII 3

छोटे और (५) मित्र। इनमें से प्रथम चार सम्बन्धो के पूर्व-पक्ष में शासन और द्वितीय पक्ष में समर्पण है। शासन पवित्रता और उदारता के साथ होना चाहिए और समर्पण पवित्रता और सत्यनिष्ठा के साथ। मित्रो के बीच सद्गुणो का स्वाभाविक विकास ही मार्ग-दर्शक सिद्धान्त होना चाहिए। मानव-समाज मे प्रत्येक सदस्य अपने नाम के अनुरूप पद प्राप्त करता है और उसी के अनुरूप उसके कर्तव्य और अधिकार-क्षेत्र होते है। इन नियमो का पालन करने से प्रत्येक व्यक्ति को एक व्यापक और गम्भीर बुद्धि प्राप्त होती है—वह बुद्धि और ज्ञान जो जीवन से प्राप्त होता है, और वह व्यक्ति अपनी अव्याहत प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इन विभिन्न पदो या स्थितियो के उपयुक्त व्यवहार का निर्धारण करनेवाले नियम हमारी प्रथाओ मे निहित है। इन प्रथाओ या रीतियो का पालन कराने के लिए बल-प्रयोग नही किया जाता। व्यक्ति की स्वतत्र स्वीकृति आवश्यक होती है। धार्मिक कृत्य और सगीत वे शक्तियाँ है जिनका प्रयोग मनुष्य के हृदय तक पहुँचने मे किया जाता है। "चरित्र का निर्माण कवियो द्वारा, उसकी प्रतिष्ठा सद्व्यवहार के नियमो द्वारा और उसकी पूर्णता सगीत द्वारा होने दो।"[१]

बुद्ध की भाँति कन्फ्यूशियस भी कहते है—"मेरे शिष्यो! क्या तुम सोचते हो कि मेरे पास तुमसे गुप्त कोई रहस्य है? तुमसे छिपा कोई रहस्य मेरे पास नही है। मेरा यह नियम है मेरे शिष्यो, कि मै तुम्हें सूचित किये बिना कुछ भी नही करता।"[२]

---

१ Analects, VIII 8

२ Giles The Sayings of Confucius (1924), पृष्ठ ८६।

आत्म-संयम की आवश्यकता

श्री कन्फ्यूशियस के समय से ही चीन मे शिक्षा का तात्त्विक उद्देश्य रहा है सद्व्यवहार और सद्गुणों की शिक्षा। एक बार एक शिष्य फान ची ने जब उनसे सद्गुण के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो गुरु ने बताया --"अपने व्यक्तिगत जीवन में विनम्र रहो, सार्वजनिक कामो के करने मे गम्भीर रहो और सभी मनुष्यो के साथ सत्यनिष्ठ रहो। बर्बर लोगो के बीच पहुँच जाने पर भी अपने गुणो को मत छोडो।"[1] सहचर-भावना और व्यवहार में तदनुकूलता का विकास करने के लिए हमें आत्म-संयम के अन्तर्विधान का पालन करना होता है। सच्चे सुख के लिए आत्मानुशासन और सरल जीवन अनिवार्य है। सद्गुण का यह विकास पुस्तक-ज्ञान से सम्भव नही है। हमे सन्तो के उदाहरणो की आवश्यकता है, ऐसे सन्तो की जिन्होने मौलिक सामाजिक सहिति की स्थापना करनेवाली अतीत प्रथाओ और परम्पराओ में अपने भीतर व्यक्तित्व और शिक्षा की शक्ति का विकास किया हो। दैनिक जीवन के धार्मिक विधानो से हमें अपना अनुशासन करना है। श्री कन्फ्यूशियस के इन शब्दो से हमे हिन्दू-धर्म ग्रन्थो की याद आ जाती है—"वह व्यक्ति जो भोजन के लिए सामान्य खाद्य—रूखा-सूखा भोजन—चाहता है, पीने को पानी चाहता है और अपनी बाँह की तकिया चाहता है, सुख अयाचित हो उसके चरण चूमेगा।" गलत उपायो से सासारिक समृद्धि नही प्राप्त करनी चाहिए। "ऐसे उपायो से जिन्हें मै जानता हूँ कि गलत है, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का विचार मुझमे उतनी ही दूर है जितनी

---

[1] Soothill The Analects of Confucius, E T (1938), पृष्ठ ९।

दूर यह ऊपर उडनेवाले बादल।[1]" अभी उस दिन आपके महाबला-धिकृत ने श्री कन्फ्यूशियस का उद्धरण देते हुए कहा था--"भूखो मरना चिन्ता की बात नही है, वास्तव में चिन्ता की बात है व्यक्तित्व का पतन।" श्री लाओत्सू ने कहा था—"महानतम विजेता वे है जो अपने शत्रु को बिना संघर्ष के ही जीत लेते है।" एक शिक्षित व्यक्ति के लक्षण है अपने पडोसियो के प्रति सहनशीलता और सबके प्रति दयालुता। श्री कन्फ्यूशियस के एक शिष्य ने कहा था--"आसमुद्र धरती पर सब भाई-भाई है।"

पर इन मानव-सद्गुणो का विकास करना सरल नही है। किसी व्यक्ति को पहाडा या मोटर की ड्राइवरी सिखा देना आसान है, लेकिन इस छोटे-से जीवन का सर्वोत्तम उपयोग करना सिखा सकना उतना आसान नही है। केवल अधिक ज्ञान हमारे जीवन को स्थिरता और सन्मार्ग नही दे सकता है। नैतिक चिन्तन नैतिक व्यवहार से भिन्न है।

भारत की भाँति चीन की भी महान आवश्यकता है सार्वजनिक भावना और सामाजिक उत्साह का विकास। 'नवजीवन आन्दोलन' (New Life Movement) के वार्षिकोत्सव पर आपके महाबला-धिकृत ने शिकायत की थी--"अधिकारी लोग बेईमान और ईर्ष्यालु होते है, जनता असयमित और भावना शून्य हो रही है, वयस्क उग्र स्वभाव के और सम्पत्तिशाली उद्धत हो रहे है। सक्षेप मे हमारी समूची सामाजिक व्यवस्था और हमारा राष्ट्रीय जीवन अव्यवस्थित हो रहा है।" कन्फ्यूशियस का विश्वास है कि नैतिक आचार लागू करने का सबसे अधिक प्रभावपूर्ण ढग है व्यक्तिगत उदाहरण। मानव-स्वभाव

[1] Waley The Analects of Confucius, E T. (1938), VII 15.

में अनुकरणशीलता प्रबल है। एक पिता अपने उदाहरण से अपने पुत्र को सिखा सकता है कि क्या ठीक है, क्या नहीं। एक राजकुमार, जिसकी तुलना पवन से की जाती है, जनता को, जिसकी तुलना घास से की जाती है, शिक्षा दे सकता है। "क्योंकि घास का यह स्वभाव है कि जब हवा उस पर चलती है तो वह झुक जाती है।" ऐसा कहने में उदाहरण की शक्ति की अत्युक्ति की गई है। और फिर आदर्श पिता या आदर्श राजकुमार हमें मिलते नहीं। अपने आदर्श के समीप पहुँचनेवाले शासक की खोज में श्री कन्फ्यूशियस असफल ही रहे। अकेले मानव-उदाहरण ही वह प्रेरक शक्ति नहीं उत्पन्न कर सकता जो मनुष्यों को सद्गुण-सम्पन्न बनाने के लिए आवश्यक है।

महत्त्व-दर्शन

महत्ता के एक नवीन दर्शन से बौद्धिक ज्ञान और नैतिक अनुशीलता को बल देना है। इसी में एक मोहक मुक्ति-दायिनी शान्ति है। महान् मनीषी अपने प्रकाश से ही हमें दीक्षित कर लेते हैं। संसार की वर्तमान शुष्क, संदिग्ध और अस्त-व्यस्त परिस्थिति से पता चलता है कि कहीं केन्द्र में ही विशृंखलता है जिसने मनुष्य की आत्मा को उसकी आशा, शान्ति और सुबुद्धि से वंचित कर दिया है। मनुष्य शरीर और बुद्धि से कुछ अधिक है। वह आत्मा है, एक शुद्ध तत्त्व है, एक सर्जक है और मान-महत्त्वों का प्रेरक है। भौतिक विज्ञानों अथवा मनोविज्ञान, तर्क-शास्त्र और सौंदर्य-शास्त्र या ललित कला और नीति-शास्त्र आदि में ही मानव-आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इन सब विद्याओं के अध्ययन का उपयोग आत्मा के विज्ञान या ब्रह्म-विद्या में करना होगा। बिना

इसके इन विद्याओ द्वारा मनुष्य-प्रकृति के पदार्थ-पक्ष में ही परिवर्तन हो पाते हैं। पदार्थ-तत्त्व के कुछ अणुओ का पुनस्सगठन करके और व्यक्ति की रुचियो और प्रेरणाओ का तारतम्य ठीक करके अर्थात् कुछ नवीन कलावृत्तियाँ सीखकर हम जीवन के सगठन में परिवर्तन ले आते हैं, लेकिन यह परिवर्तन केवल वाह्य-परिवर्तन है और जैविक या आन्तरिक परिवर्तन से भिन्न है। प्रकृति की सच्ची विजय अपनी विजय है—आत्मा की विजय है। सगठनकर्ताओ को स्वय अपने आपको परिवर्तित करना होगा और यह तभी सम्भव है जब हमारे भीतर आत्मा की प्रेरणा हो। इस महत्त्व दर्शन से रहित, परम तत्त्व पर इस विश्वास के बिना, मनुष्य पूर्णरूप से मनुष्य नही है। श्री कान्ट (Kant) का कहना है कि मनुष्य का विवेक अपने कर्तृत्व के सभी क्षेत्रो —ज्ञान, नैतिकता और सौन्दर्य—में असीमित, अनन्त और परम तत्त्व की माँग करता है, उनका तात्पर्य यही है कि हमारी प्रकृति इस दशा और सीमा के बन्धन से विद्रोह करती है। मनुष्य के रचनामूलक जीवन के लिए वास्तविकता का तत्त्वज्ञान आवश्यक है। ईश्वर-प्रेम वह निर्णायक तत्त्व है जो ज्ञान को कर्म में बदल देता है। अकेले यही मानव-हृदयता का गुण उत्पन्न कर सकता है।[१] विना विवेक के ज्ञान अभिमानी वना सकता है और नैतिकता वर्बर बना सकती है। अनु-शासन, आत्म-सयम, निष्ठा, आज्ञा-पालन और अपना जीवन होम देने तक की बलिदान-भावना ठगो और लुटेरो के समुदाय में भी अत्यधिक देखी जाती है। ज्ञान और नैतिकता अमूल्य निधियाँ है पर उन्हें जीवन मे परम पद नही दिया जा सकता। आत्मा को वुद्धि या इच्छा

[१] श्री मेंशियस कहते हैं—"मानव-हृदयता से सम्पन्न मनुष्य धरती पर अजातशत्रु होता है।" VII b 3

के स्तर पर नीचे नहीं गिराना है। अपनी सामाजिक विश्वास-हीनता, राजनीतिक माया-जाल और सामान्य छिन्न-मूलता से ग्रस्त यह आधुनिक संसार अंध बुद्धिवाद का परिणाम है। श्री मो त्सू कहते हैं—"जो परमात्मा के आदेश का पालन करते हैं वे विश्व भर को प्रेम करते हैं और दूसरों का कल्याण करते हैं और जो परमात्मा के आदेश का विरोध करते हैं वे पक्षपात करते हैं, द्वेष-भाव रखते हैं और दूसरों को हानि पहुँचाते हैं।" मनुष्य जैसे-जैसे परमात्मा के समीप पहुँचते हैं वैसे ही-वैसे वे परस्पर भी समीप आते जाते हैं। ईश्वर पर विश्वास रखनेवाले मानवता के साम्राज्य के मसीहा हैं। उनमें ज्ञान और प्रेम की शान्ति है। हिन्दू-विचारकों का विश्वास है कि आत्मा की परम सत्ता पर विश्वास रखने के रूप में धर्म मनुष्य के पूर्ण और सन्तुलित जीवन के लिए तात्त्विकरूप से आवश्यक है। शिक्षा का सच्चा उद्देश्य इस आत्म-साम्राज्य से परिचित कराना है। शिक्षा पुनर्जन्म है। हमारा प्रथम जन्म प्रकृति और आवश्यकताओं की दुनियाँ में होता है। हमारा पुनर्जन्म आत्मा और मुक्ति के लोक में होता है। इस पुनर्जन्म का साधन है एक व्यापक और गम्भीरतर ज्ञान जो उस समझदारी से कहीं अधिक बढ़कर है जो हमारा मस्तिष्क हमें देता है। हम केवल सामाजिक जीव नहीं हैं बल्कि अनन्त के यात्री हैं।

मनुष्य का जन्म एक आध्यात्मिक स्थिति के लिए होता है और एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में उसका उस स्थिति से निरन्तर सम्बन्ध रहता है। यह अनुसंधान कि हम इस दृश्य-जगत् से परे किसी भिन्न स्थिति के जीव हैं, मनुष्य की आत्मा को वह आवश्यक बल देता है जिससे वह अपना जीवन एक दैवी ढाँचे में ढालता है और बाह्य विश्व के दुराग्रह पर विजय पाता है। आज हमें जिस बात की आवश्यकता है वह एक

गम्भीर आध्यात्मिक चेतना का नवजागरण, एक रचनात्मक विश्वास की नवप्रतिष्ठा है। जैसे एक व्यक्ति को अपने सासारिक सावनो के समाप्त हो जाने पर आत्मा के साम्राज्य का बोध होता है ठीक वैसे ही यह ससार, जो आज लाखो व्यक्तियो की विपन्नता और उनकी क्रमिक मृत्यु की स्थिति मे अपनी असहाय अवस्था से विचलित हो रहा है, एक नवीन युग के द्वार पर पहुँच गया प्रतीत होता है। ससार में जितनी ही घनी कालिमा हो अरुणोदय उतने ही नजदीक है। अपनी नवीन अन्तर्दृष्टि और वलिदानमयी भक्ति के साथ जव यह नव-आध्यात्मिक प्रतिष्ठा होगी तव हम युद्ध-मुक्त विश्व के समीप पहुँच जायँगे। शिक्षा का सच्चा उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह चरित्र की सहिति और आत्मा की सर्जन-भावना से पूर्ण व्यक्तियो का निर्माण करे।

बदलता हुआ चीन

चीन आज बडी तेजी से वदलता जा रहा है। हाल के दशको में पश्चिमी विज्ञान और यान्त्रिकता का प्रवेश बडी तेज़ी से हुआ है। विद्यालयो को नया आधुनिक रूप दिया जा रहा है। पश्चिम के प्रवल प्रभाव में आज वह सभ्यता विखर रही है जो हज़ारो वर्षो से अपना विशिष्ट रूप बनाये वैठी थी, और एक आध्यात्मिक किंकर्तव्यविमूढता फैल रही है। आधुनिकता के पक्षपाती अनेक चीनियो का विश्वास है कि उनके सामने विपकल्प दो ही हैं——या तो पश्चिम की वैज्ञानिक और यान्त्रिक कुशलता का अनुकरण करें या आर्थिक और राजनीतिक दासता में पडे रहें। लेकिन फिर भी मेरा विश्वास है कि चीन विश्व-व्यवस्था

में अपना व्यक्तिगत स्वरूप बनाये रहेगा क्योंकि उसने अतिसभ्यता के प्रभाव देख लिये हैं। प्रगति परिवर्तनमात्र नहीं है, बल्कि वह उत्थान है। यदि कल्याणकारी होना है तो परिवर्तन भीतर से और क्रमिक होना चाहिए। चीन के परिवर्तन संगठन-मूलक और सजीव होने चाहिए, उन परिवर्तनों में अतीत युगों के मान-महत्त्वों का क्षेम होना चाहिये, उनकी रक्षा होनी चाहिए, और साथ ही एक आधुनिक समाज के लिए आवश्यक कौशल भी अपनाया जाना चाहिए। यदि चीन यह कौशल अपना लेता है और प्रथम तत्त्व को छोड़ देता है तो वह एक औद्योगिक और सैन्यवादी राष्ट्र हो जायगा, पर वह अशान्त और दु:खी बना रहेगा। प्रगति और कार्य कुशलता आवश्यक है, पर ये ही सब कुछ नहीं है। ये तो शांति और सुख के साधनमात्र है। चीले जमाने में चीन में ज्ञानार्जन एक निश्चित पद्धति का था और शिक्षकों की महत्त्वाकांक्षा यही होती थी कि वे अपने शिष्यों को एक व्यवस्थित समाज-पद्धति में अपने स्थान के ठीक उपयुक्त बना दें। उन शिष्यों को शिक्षा दी जाती थी कि जो कुछ परम्परागत है उसे पूर्ण मानें, शिक्षक को अच्युत समझें, माता पिता को सर्वोच्च अधिकारी माने और सम्राट् की आज्ञाओं को हमेशा ठीक समझें। अब चीन के विद्यार्थी क्रान्ति के बच्चे हैं और आज उनकी शिक्षा का उद्देश्य है उनकी शक्ति को बढ़ाना न कि घटाना, उनकी आत्मा का विस्तार करना न कि उसकी रक्षा करना, समाज को आगे बढ़ाना न कि उसे उसके वर्तमान रूप में सीमित रखना और प्रगति में बाधा डालना। अपनी सभ्यता के भौतिक पक्ष को सुधारने के लिए हम व्यावहारिक विज्ञानों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन करें पर परम्परागत मानवतावादी भाव-धारा की उपेक्षा हमें नहीं करनी चाहिए।

श्री कन्फ्यशियस की शिक्षा-पद्धति ने शिक्षको को जीवन-व्यवस्था में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। यद्यपि चीन नाम के लिए एक निरकुश राजतत्र था पर वास्तविक प्रभाव-शक्ति तो एक ज्ञानसिद्ध कुलीन वर्ग के हाथो में थी। ज्ञानियो के इस गणतत्र की शक्ति से चीनी परम्परा की अविच्छिन्नता सुरक्षित रही। जीवन-पद्धतियो को वदलने का अधिकार विद्वानो को ही है क्योकि उनमें आत्मा की शक्ति है और परखने की सुवुद्धि। आज जो लोग कन्फ्यूशियस के सिद्धान्तो की तात्त्विक गम्भीरता समझते है वे इन प्राचीन सिद्धान्तो को जीवित और वास्तविक वनाये रखने के लिए नवीन स्वरूप खोज निकालेंगे। चीनी विद्वानो की स्वाधीन और प्रसन्न अन्वेषणाओ से रचनात्मक और प्रभावकारी विचारो के अनेक वीज-विन्दु निकलेंगे। ज्ञान एक सामाजिक प्रेरक शक्ति और राष्ट्रीय पुनरुत्थान का साधन वन जायगा।

४

चीन में धर्म : कन्फ्यूशियस का धर्म

चीन में जिन धर्मों का एक लम्बा इतिहास रहा है और जो चीनी जनता के मन और चरित्र के अंग बन गये हैं वे हैं कन्फ्यूशियस का धर्म, ताओ धर्म और बौद्ध धर्म।[1]

प्राचीन धार्मिक मत

चीन के प्राचीन धर्म में, जिसे डाक्टर हू शी ने सिनिटिसिज्म या चीनी धर्म कहा है, निम्नलिखित बातें शामिल थीं—एक परमेश्वर की पूजा, मृतात्माओं की पूजा, प्राकृतिक शक्तियों की पूजा, भले और बुरे के प्रतिफल पर विश्वास और भविष्य दर्शन के विविध रूपों पर और उनसे होनेवाले कल्याण पर विश्वास।[2]

---

[1] "इन तीन में से प्रत्येक धर्म को सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त थी और तीनों को उनकी अनुकम्पा मिली हुई थी। इन तीनों धर्मों को देश के प्रतिष्ठित धर्म के तीन अंग या पहलू कहा जा सकता है।"—The Three Religions of China by Soothill (1929), पृष्ठ २।

[2] Religion and Philosophy in Chinese History, पृष्ठ ५ देखिये।

श्री कन्फ्यूशियस के समय पूर्वी चीन के लोगो और पश्चिमी चीन के लोगो—शंग और चाऊ लोगो—के विश्वासो का सम्मिलन हुआ। शंग लोगो को भविष्य-दर्शन[१] पर विश्वास था और चाऊ लोगो को शंग-ती या हाओ-तीन, अर्थात् स्वर्ग[२] या ईश्वर, की पूजा पर विश्वास था। चाऊ-राजवश के नेताओ ने ताओ अथवा उस जीवन-पद्धति पर जोर दिया जिसे उन्होंने प्रकृति की आत्म-स्फूर्ति और उसकी व्यवस्था

---

१ "चीन की सभ्यता में भविष्य-दर्शन के महत्त्व की अत्युक्ति नही की जा सकती। जहाँ तक हमें ज्ञात है चीन के सर्वप्रथम लेख भविष्य-वक्ता अस्थियो पर खोदे गये थे, जिनमें भविष्य-दर्शन के विषय और भविष्य-वक्ताओ के उत्तर व उनकी तिथियाँ लिखी हुई थी। यह लेखन-कला, तिथिक्रम, इतिहास और साहित्य का परिणाम था। इसी से साहित्यिक शिक्षा और एक बौद्धिक वर्ग के प्रारम्भ का भी श्रीगणेश होता है, क्योकि भविष्य-दर्शन और उपासना को दिये जानेवाले अत्यधिक महत्त्व ने और अस्थियो पर अंकित रहस्यपूर्ण चिह्नो के अर्थ-बोध की कठिनाई ने और विचाराकार-लिपि पर अधिकार पाने की कला ने विशिष्ट वर्ग को जन्म दिया . .. जो ऐसे कामो के लिए विशेषरूप से दीक्षित किया जाता था।"—Symposium of Chinese Culture by Hu Shih, पृष्ठ २८।

२ प्रारम्भ मे स्वर्ग का अर्थ था स्वर्ग में रहनेवाले लोग, अर्थात् पूर्वज, जिनके अध्यक्ष थे सर्वप्रधान पूर्वज शंग-ती, जो प्रथम पूर्वज थे। यह सर्वप्रधान पूर्वज शंग-ती स्वर्ग--तीन (T'ien)--के साथ मिलकर एक हो गये। तीन' का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है—भौतिक आकाश, दैव जो मनुष्यो के जीवन पर शासन करता है, प्रकृति, नैतिक विधान और मानवरूप में व्यक्त ईश्वर।—A History of Chinese Philosophy, by Fung Yu-lan, E T (1937), पृष्ठ ३१ देखिये।

में खोज निकाला था। "ताम्रो का समादर करना स्वर्ग की अनुकम्पा पाना है।" ताम्रो की यह धारणा ऋग्वेद के ऋत का प्रतिरूप है जो प्रकृति, मनुष्यों और देवताओं के व्यवहार का नियन्त्रण करनेवाली शक्ति है। यह विश्व व्यवस्था ही ताम्रो है जो पुरुष और प्रकृति, स्वर्ग और पृथ्वी, प्रकाश और अन्धकार के द्वैत्व के माध्यम से काम करती है। जब ये विरोधी एक संहिति में रहते हैं तो सब ठीक रहता है, जब उनकी संहिति बिगड़ जाती है तो आपदायें आती हैं।

सामाजिक स्थिति : छठी व पाँचवीं शताब्दी ई० पू०

कन्फ्यूशियस के समय चीन की स्थिति अशान्त थी। प्राचीन मानदंड ढीले पड़ गये थे, पूर्वागत परम्पराओं और तत्कालीन आचारों में मेल नहीं था। चाऊ-राजवंश के पतन के काले दिनों के सम्बन्ध में श्री मेंगियस ने लिखा है—"संसार का पतन हो गया था और सत्य तिरोहित हो चुका था। दुस्सिद्धान्त तथा हिंसात्मक कार्य सर्वव्यापक थे। अस्वाभाविक कृत्य—राजा की हत्या और पितृ-हत्या जैसे कृत्य—किये जाते थे। श्री कन्फ्यूशियस भयभीत थे।" उनके लिए भौतिक या शारीरिक संकटों से अधिक दुखदायी था दुश्शासन। एक बार उन्होंने ताई पर्वत के पार्श्व में एक सुनसान स्थान पर एक स्त्री का रोना सुना और अपने शिष्य को भेजा कि वह देखे वह स्त्री वहाँ क्यों रो रही है। "मेरे पति के पिता को यहाँ चीते ने मार डाला था, मेरे पति भी और अब मेरा पुत्र भी यहीं इसी प्रकार मारे गये।" कन्फ्यूशियस ने पूछा—"तो फिर ऐसे भयानक स्थान में तुम क्यों रहती हो?" स्त्री ने उत्तर दिया—"क्योंकि यहाँ कोई अत्याचारी शासक नहीं है।" कन्फ्यूशियस

ने अपने शिष्यो से कहा--"विद्यार्थियो, याद रखो--अत्याचारी शासक एक चीते से भी अधिक निर्दयी होता है।" ईसा से पहले छठी और पाँचवी शताब्दी मे चीनी जन-समाज की अराजकतापूर्ण परि-स्थितियो ने विचारवान् लोगो को बहुत व्यग्र किया और उन्होने सामाजिक स्थिरता लाने और सामाजिक विकास को गति देने के उपाय सोचे। विभिन्न विचार-सम्प्रदाय उठ खडे हुए जिनमें से प्रधान श्री कन्फ्यूशियस और श्री लाओ त्सू के सम्प्रदाय थे, जो चीन के प्राचीन धर्म के दो पक्षो पर ज़ोर देते है। सामाजिक और राजनीतिक पक्ष पर श्री कन्फ्यूशियस ने ज़ोर दिया और साधना और रहस्यानुभूति के पक्ष पर श्री लाओ त्सू ने, लेकिन सामान्य जनता ने प्राचीन अन्धविश्वास, बह्मवाद और जादू-टोने को अपनाया। और यही आज भी चीनी जनता का प्रचलित धर्म है। तत्कालीन परिस्थितियो से श्री कन्फ्यूशियस और लाओ त्सू दोनो असन्तुष्ट थे। दोनो का विश्वास था कि बीते युगो में मनुष्य परस्पर भाई-भाई सा व्यवहार करते थे और धनी निर्धनो का शोषण नही करते थे। दोनो ने ही अतीत को आदर्शरूप में चित्रित किया, दोनो ही पुराने राज्यो को सुव्यवस्थित मानते थे। केवल प्राचीन आचार-पद्धतियो की व्याख्या में ही दोनो मे परस्पर विभेद था। श्री कन्फ्यूशियस ने सामाजिक सुधार की नैतिक पद्धति अपनाई। समाज तभी अराजक हो जाता है जब मनुष्य विभिन्न सम्बन्धो के अपने कर्तव्यो का अपने आवेगो के कारण बराबर उल्लघन करता है। इसे हम रोक सकते है, यदि शासक स्वस्थ उदाहरण रखे। यदि शासक अच्छे है तो जनता अच्छी होगी। श्री कन्फ्यूशियस को इस पर इतना गहरा विश्वास था कि उन्होने कहा--"यदि कोई शासक बारह महीनो के लिए मुझे अपना निर्देशक मानकर आत्म-समर्पण कर दे तो मै बहुत

कुछ सम्पन्न कर दूंगा और तीन वर्ष में तो मैं अपनी आशाओं की सिद्धि प्राप्त कर लूं।" श्री लाओ त्सू ने हर प्रकार के राजकीय नियंत्रण की समाप्ति का सुझाव दिया। प्रत्येक व्यक्ति को विश्व की आत्मा के साथ एक संहिति स्थापित करने दो, उसे सामाजिक सम्बन्धों के चक्कर में, जो अधिकाधिक कटु और जटिल होते जा रहे हैं, न डालो। जहाँ एक ओर श्री लाओ त्सू ने अकर्मण्यता और व्यक्तिवाद का पोषण किया वहाँ दूसरी ओर श्री कन्फ्यूशियस ने डटकर उनका विरोध किया।

कन्फ्यूशियन धर्म

कन्फ्यूशियन सिद्धान्त के प्रमुख व्याख्याता तीन हैं—श्री कन्फ्यूशियस (५५१ से ४७९ ई० पू०), श्री मेन्शियस (३७२ से २८९ ई० पू०) जिन्हें द्वितीय सन्त कहा जाता है और श्री चू सी (११३० से १२०० ई०) जो कन्फ्यूशियन सिद्धान्त के महान् टीकाकार हैं। ईसा-पूर्व तीसरी सदी के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते कन्फ्यूशियन धर्म आठ सम्प्रदायों में बँट गया और प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आपको श्री कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं का एकमात्र उत्तराधिकारी घोषित करने लगा। श्री मो त्सू (चौथी सदी ई० पू०) ने मेन्शियस तथा अन्य लेखकों को बहुत प्रभावित किया, यद्यपि वे स्वयं कन्फ्यूशियस के अनुयायी न थे।

श्री कन्फ्यूशियस

श्री कन्फ्यूशियस की प्रधान शिक्षा है मानव व्यक्तित्व को सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल ढालना। समाज की मंगल-स्थिति व्यक्तियों की

पारस्परिक स्वाभाविक सहानुभूति पर निर्भर है। इस सहानुभूति की अभिव्यक्ति व्यक्ति के पारिवारिक क्षेत्र मे होनी चाहिए और वहाँ से क्रमश वह उन लोगो तक पहुँचनी चाहिए जो उससे दूर हैं।[१] श्री कन्फ्यूशियस पितृ-प्रेम, पारिवारिक स्नेह, राज्यनिष्ठा और पडोसी के प्रति प्रेम की शिक्षा देते है। समाज के सभी सदस्य जब अपने पृथक्-पृथक् निश्चित कर्तव्यो का पालन करते है तब समाज सुव्यवस्थित रहता है। जब सभी अपना कर्तव्य करते है तब महान् सार्वजनीन सम्भूति—प्रजातत्र—का विकास होता है। "जहाँ महान् सिद्धान्त का पालन होता है वहाँ सभी सार्वजनीन हित के लिए काम करते है। सद्गुणशाली व्यक्तियो को पदो के लिए निर्वाचित किया जायगा और समर्थ लोगो को उत्तर-दायित्व सोपा जायगा। विश्वास और निष्ठापूर्ण व्यवहार होगा और सामजस्य का शासन होगा। इसलिए परिणामत मानव-जाति अपने पूर्वजो का समादर और प्रेम और सन्तति की रक्षामात्र ही नही करेगी, सभी वयोवृद्ध लोगो के जीवन-यापन का उचित प्रबन्ध होगा और सभी युवको को काम दिया जायगा। बच्चो की वैसे ही रखवाली होगी जैसे उनके माँ-बाप करते है, विधवाओ और विधुरो, पितृहीनो और अविवाहितो, अपगुओ और बीमारो—सबकी रखवाली और चिन्ता की जायगी। पुरुषो को अपने अधिकार मिलेगे और महिलाओ को उनके घर। किसी भी पदार्थ या वस्तु की बरबादी न होगी और न व्यक्तिगत स्वामित्व के लिए उनका सचय होगा। कोई भी अपनी शक्ति व सामर्थ्य की चोरी न करेगा और न व्यक्तिगत लाभ के लिए उसका

---

[१] 'The Great Learning' नामक पुस्तक में Odes का उद्धरण दिया गया है—"पत्नी से प्रारम्भ करके बन्धुओ और तब देश तक सहानुभूति का विकास कर।"

उपयोग ही करेगा। इस स्थिति में स्वार्थ समाप्त हो जाता है और चोरी, अव्यवस्था सुनाई नही देती। इसलिए घरा के दरवाजे कभी बन्द नही होते। इसी स्थिति को—ऐसे ही राज्य को—महान् सार्वजनीन सम्भूति[1] कहते है।" यह एक समाजवादी विश्वव्यापी सार्वजनीन सम्भूति का चित्र है, एक राष्ट्रोपरि सगठन जिसका क्षेत्र यह समस्त विश्व है, जिसका शासन लोक प्रिय निर्वाचन द्वारा मैत्री-भाव के आधार पर होता है। इसमें कोई वशानुगत बात विचार में नही लाई जाती और प्राकृतिक सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व के लिए शोषण नही होता।

समाज के विभिन्न सदस्यो के क्या कर्तव्य है, इस सम्बन्ध में श्री कन्फ्यूशियस कोई नई बात नही कहते। वे कहते है कि वे तो केवल एक विचार-वाहकमात्र है—"अतीत के श्रद्धालु और प्रेमी" न कि अन्वेषक।[2] उन्होने प्राचीन काल के सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों का नीति-ग्रन्थन किया जिसमें न केवल व्यक्तिगत स्वच्छता और सामाजिक कर्तव्य सम्मिलित है बल्कि धार्मिक कर्मकाण्ड और मृतात्माओ के प्रति कर्तव्य तथा पवित्र परम्परायें भी शामिल है। मनु और मोजेज़ के नीति-शास्त्रो की भाँति 'ली' का धर्म भी अन्य बातो के साथ निष्ठा-भक्ति और नैतिक आत्म-सयम की आवश्यकता बताता है। यह वही है जिसे हिन्दू लोग धर्म कहते है, व्यक्तिगत और सामाजिक धर्म। कन्फ्यूशियन धर्म एक एकान्तिक नीतिशास्त्र नही है। श्री कन्फ्यूशियस हमें स्वर्ग की उपासना करने और अपने पूर्वजो तथा धरती की विभूतियो—शक्तियो, पर्वतो और नदियो—के प्रति श्रद्धा रखने को

---

[1] श्री लियाग चा-चाओ द्वारा लिखित 'Chinese Political Thought' में श्री ली युन का उद्धरण, E T (१९३०), पृष्ठ ४४।

[2] Analects, IV I

कहते है। यह अतीत काल के विश्वास और अतीत की परम्पराये थी जिन्हें कन्फ्यूशियस ने अपना लिया था। उनकी दृष्टि मे ईश्वर सर्वशक्तिमान् शासक है जिसकी हमें श्रद्धा और उपासना करनी है। उसने इस ससार की सृष्टि की है और मानव-जाति के विभिन्न वर्गों का निर्धारण किया है। उसके नीचे अनेक शक्तियाँ है जो अपने पृथक् पृथक् क्षेत्रो—दैवो या स्वर्गीय और लौकिक—का शासन करती है और उन्ही के द्वारा मनुष्यो की रक्षा और उनका परिचालन होता है। समाज के कल्याण के लिए पूर्वजो की पूजा आवश्यक है। इस प्रकार के धर्म-शास्त्र में देवताओ और शक्तियो की निरन्तर वृद्धि के लिए पर्याप्त अवसर है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है कि कन्फ्यूशियन धर्म में देवताओ की सख्या काफी बडी है।

शासक देवपुत्र था जो अपनी प्रजा और स्वर्ग या ईश्वर के बीच मध्यस्थ का काम करता था और प्रजा की ओर से ईश्वर की पूजा करता था। अन्य कृषि-प्रधान देशो की भाँति, जहाँ लोगो को ऋतुओ की नियमित गति पर निर्भर रहना पडता था, चीन में भी धरती अपनी बडी-बडी नदियो और महान् पर्वतो के साथ पूजा का पात्र बन गई। चीन के लोग, जो परिवार को एक इकाई और अविभाज्य मानते थे, यह नही सोचते थे कि मृत्यु के बाद अपने परिवार मे व्यक्ति की अभिरुचि और ममता समाप्त हो जाती है। इसी का परिणाम है पूर्वज-पूजा की प्रथा। फिर भी स्पष्ट है कि श्री कन्फ्यूशियस स्वर्ग और देवताओ-सम्बन्धी इन निराधार विश्वासो पर जोर नही देते। सत्य तो यह है कि भगवान् बुद्ध की भाँति वह आध्यात्मिक और धार्मिक गूढ तत्त्वो के विवाद को निरुत्साहित ही करते है। जब श्री त्से-लू ने उनसे स्वर्गीय और पार्थिव शक्तियो की पूजा के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होने

उत्तर दिया—"हमने अभी तक मनुष्यों की सेवा करना तो सीखा नहीं, देवताओं की सेवा करना हम कैसे जान सकेंगे।" "मृत्यु के सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं?"—दूसरा प्रश्न था। श्री कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया—"जीवन के सम्बन्ध में तो अभी हम जानते नहीं, मृत्यु के सम्बन्ध में कैसे जान सकेंगे?" यद्यपि श्री कन्फ्यूशियस ने इस विषय पर विवाद करना टाल दिया पर वे मरणोत्तर जीवन अस्वीकार नहीं करते, क्योंकि पूर्वज आत्माओं की पूजा करने के उनके आदेश में उनके मरणोत्तर जीवन की स्थिति निहित है। "गुरुदेव (श्री कन्फ्यूशियस) कौतुक, शक्ति, अव्यवस्था अथवा अलौकिकता पर विवाद नहीं करते थे।"[1] उन्होंने धर्माचारों के पालन का अनुमोदन किया था, इसलिए नहीं कि उनसे देवता प्रसन्न होंगे बल्कि इसलिए कि वे आचार अतीत काल की देन थे। वे यह जानते थे कि कोई भी बाह्य अधिकार-सत्ता मानव-कर्म पर ठीक मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने में समर्थ न होगी। पर सन्तों और ऋषियों द्वारा प्रदत्त, पूर्वजों से प्राप्त, कोई भी अतीत संस्कृति हमारी श्रद्धा और सम्मान का पात्र बन जायगी।

श्री कन्फ्यूशियस के अनुसार जीवन के 'शिव' का अर्थ है ईश्वरीय विधान के साथ हमारी अनुरूपता, जो हमें शक्ति देती है। बलिदान और भविष्य-दर्शन ईश्वरेच्छा को प्रसन्न व तुष्ट करने और उसके जानने के साधन हैं। कन्फ्यूशियस के मत के संस्कार-शास्त्रज्ञ यह सिद्ध करते हैं कि "बलिदान कोई ऐसी चीज नहीं है जो हमें बाहर से मिलती है। वह तो ऐसी चीज है जो हमारे भीतर से आती है क्योंकि उसका जन्म हमारे हृदयों (भावनाओं) में होता है, जब हृदय अशान्त होता है

[1] Analects, VII 20

हम कर्मकाण्ड से उसे सहारा देते है।"[1] एक पूर्व ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए श्री सून त्सू कहते है—"बलिदान मन की वह स्थिति है जब हमारे विचार प्रबल कामनाओ के साथ स्वर्ग की ओर प्रेरित होते है। निष्ठा, प्रेम और श्रद्धा की यह परम अभिव्यक्ति है।"[2] जब श्री कन्फ्यूशियस हमे "कर्मकाण्ड और सगीत' समझने का आदेश देते है तब वह उन्हे व्यक्तित्व सस्कार के साधनरूप मे स्वीकार कर लेते है। 'सगीत स्वर्ग अथवा भावसूक्ष्म का प्रतिनिधित्व करता है, जब कि कर्मकाण्ड धरती अथवा ठोस मूर्त का।" जब श्री कन्फ्यूशियस यह कहते है कि मनुष्य की शिक्षा सगीत से प्रारम्भ, नैतिक सयम से पुष्ट और सगीत से पूर्ण होनी चाहिए तब वे यह विश्वास करते है कि इन सब का उद्देश्य मानव-प्रकृति का सस्कार है। कन्फ्यूशियन धर्म का तात्त्विक या आधारभूत विश्वास है—"मनुष्य धर्म का विकास कर सकते है, धर्म मनुष्य का विकास नही करता।"

श्री चुआग त्सू ने श्री कन्फ्यूशियस और श्री लाओ त्सू के बीच एक सम्वाद की चर्चा की है जिसमे इस विचार पर जोर दिया गया है कि श्री कन्फ्यूशियस की नैतिकता कुछ बाह्य-विषयक थी। "कन्फ्यूशियस ने लाओ त्सू से कहा—'मैने गीतो की पुस्तक, इतिहास की पुस्तक, कर्मकाण्ड की पुस्तक, सगीत-शास्त्र व परिवर्तनो की पुस्तक, बसन्त और शरद का लेखा—सब मिलाकर ६ धार्मिक पुस्तको का सम्पादन किया है और मै समझता हूँ कि मै यह दावा कर सकता हूँ कि उनके मन्तव्य को मैने भलीभाँति स्वायत्त कर लिया है। इस समस्त ज्ञान मे

[1] Waley द्वारा लिखित Li Chi, Ch 25 द्वारा 'The Way and Its Power' मे उद्धृत, पृ० २४।
[2] Ibid, पृष्ठ २४–२५।

सज्जित हो मैंने ७२ शासकों का साक्षात् किया है, भूतपूर्व शासकों के विधान की व्याख्या की है, चाऊ और शाओ सम्राटों (बारहवीं सदी ई० पू०) की सफलताओं की चर्चा की है, लेकिन एक भी शासक ऐसा न मिला जिसने मेरी शिक्षा का तनिक भी उपयोग किया हो। ऐसा लगता है कि या तो मेरे ये श्रोता नितान्त अविश्वासी—कठिनाई से दूसरों की बात माननेवाले—रहे हैं या फिर पहिले के शासकों के विधान ही अत्यन्त दुर्बोध हैं।' श्री लाओ त्सू ने कहा—'यह सौभाग्य की बात है कि आपको कोई भी ऐसा शासक नहीं मिला जो संसार का सुधार करने के लिए उत्सुक हो। ये धर्म-पुस्तकें प्राचीन राजाओं के धूमिल पद-चिह्न हैं। वे हमें उस शक्ति के सम्बन्ध में कुछ नहीं बताते जिसने उनके कदमों को रास्ता बताया था। आपके सभी उपदेश उन वस्तुओं से सम्बन्धित हैं जिनका महत्त्व धूल में पड़े पद-चिह्नों से कुछ भी अधिक नहीं है। और पद-चिह्न तो पदत्राणों (जूते) से बनते हैं, पर वे स्वयं पदत्राण नहीं हैं।'[1] कन्फ्यूशियस के नीतिशास्त्र की ऐसी आलोचना बिलकुल उचित नहीं कही जा सकती क्योंकि उन्होंने जन—हृदय की भावना—के विकास पर जोर दिया है। उन्हें मनोनुशासन पर आत्मा के शासन पर विश्वास था जो कभी-कभी हमें परम्परागत नैतिकता के साथ टक्कर लेने की स्थिति में ला सकता है। श्री कन्फ्यूशियस कहते हैं—"निरकुशतापूर्वक शासित और दण्ड-भय से व्यवस्थित लोग विधान भंग करने से दूर भले ही रहें पर उनकी नैतिक आस्था नष्ट हो जाती है। सद्शासन से शासित और आत्म संयम

[1] E T 'Three Ways of Thought in Ancient China' (१९३९) नामक अपने ग्रन्थ में पृष्ठ ३१-३२, श्री वैली द्वारा।

के अन्तर्विधान से व्यवस्थित अपनी नैतिक आस्था सुरक्षित रखते हैं और साथ-ही-साथ वे भद्र बन जाते है।"[१] और भी "यदि कोई व्यक्ति अपने हृदय का सस्कार कर सकता है तो शासन मे भाग लेने से उसे कौन शक्ति रोक सकती है। पर यदि वह अपने हृदय का सस्कार नही कर सकता तो फिर दूसरो का सुधार करने से उसे क्या प्रयोजन ?"[२] और फिर "आन्तरिक सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति के होठो पर आनेवाले शब्द भी सत् शब्द होते है, पर होठो पर सत् शब्द रखनेवाला व्यक्ति सर्वदा सद्गुण-सम्पन्न नही होता। पूर्ण सद्वृत्तिशाली व्यक्ति में साहस होना निश्चित है, पर साहसी व्यक्ति का सद्वृत्तिशाली होना आवश्यक नही है।"[३] जिन ६ गुणो को उन्होने एक भद्रकोटि के मनुष्य की विशेषतायें बताया है उनमे आन्तरिक सद्वृत्तियाँ भी निश्चितरूप से शामिल है। 'ऐसा व्यक्ति इस बात की कामना और चिन्ता करता है कि वह स्पष्ट देखे, स्पष्ट सुने, दया-दर्शी, विनताचारी, विवेकभाषी और अपने व्यवहार में सत्यनिष्ठ हो, सशय उत्पन्न होने पर वह दूसरो से उसके निवारण का प्रयत्न करता है, क्रोध आने पर वह परिणामो को सोचता है और स्वार्थ के अवसर—प्रलोभन—दिये जाने पर वह अपने कर्तव्य का ही विचार करता है।"[४] फिर भी श्री कन्फ्यूशियस जानते थे कि स्वाधीनता के स्वच्छन्दता में परिणत हो जाने का डर है

---

१ Giles The Sayings of Confucius (१६१६), पृष्ठ ३६।
२ Giles The Sayings of Confucius, (१६२६), पृष्ठ ४५।
३ Ibid, पृष्ठ ६६।
४ Ibid, पृष्ठ ६६।

और इसीलिए उन्होंने सच्चरित्रता पर इतना अधिक जोर दिया।

भगवान् बुद्ध की भाँति आध्यात्मिक समस्याओं के प्रति कन्फ्यूशियस की अनुत्सुकता का कारण स्यात् उनकी नैतिकता-सम्बन्धी उत्सुकता है। जो कुछ भी श्रद्धा का विषय है ज्ञान के चेतना-परक सिद्धान्त को जन्म देता है। तार्किक ज्ञान तो सत्य की सिद्धि तक ले जाना चाहता है—उस सत्य की जो पदार्थ-विषयक और विश्वव्यापी है, पर रहस्यात्मक अन्तर्ज्ञान, जो तर्क-सिद्ध ज्ञान की अवहेला करके उससे ऊपर-ही-ऊपर निकल जाता है, हमें अधिक-से-अधिक विश्वास और निश्चयाभास देता है न कि सत्य तथा निश्चित ज्ञान। श्री कन्फ्यूशियस ने चिन्तन (अन्तर्ज्ञान)-मूलक साधनों का अभ्यास किया, किन्तु वे तर्क की प्रधान पद्धतियों की ओर ही झुके। "मैंने सारा दिन निराहार और सारी रात निद्राहीन बिताई है, इसलिए कि चिन्तन कर सकूं। पर सब व्यर्थ रहा। इससे तो ज्ञानार्जन अच्छा है।" चूंकि अलौकिक सत्ता पर विश्वासों से मनुष्यों में विभेद बढ रहे थे इसलिए उन्होंने उन पर जोर नहीं दिया। मानव-ज्ञान की सीमाओं का उन्हें बोध था। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि श्री कन्फ्यूशियस अनन्त रहस्य की भावना से शून्य थे। उन्हें एक परम स्वर्ग या परमेश्वर की सत्ता पर विश्वास था और यह विश्वास उन्हें अतीत युगों से प्राप्त था। 'तियेन'—स्वर्ग (ईश्वर)—संसार का स्रष्टा है, पालक है और संहारक है, विश्व-व्यवस्था का संरक्षक है, वह सर्वदर्शी और न्यायी है। उनका यह ईश्वर—'तियेन'—ऋग्वेद के वरुण और ईरानियों के अहुरमज़दा का प्रतिरूप है। कन्फ्यूशियस को एक ऐसी शक्ति पर विश्वास था जो हमारी पवित्रता में सहायिका और हमारे जीवन की निर्मात्री शक्ति है। उनके निम्नलिखित कथन यह सिद्ध करते हैं कि एक सदुद्देश्यपूर्ण

शासक के रूप में स्वर्ग पर उनका विश्वास था। "मेरी कामना है कि मै बिना बोले रह सकता।"–गुरु ने कहा। श्री त्सू कुग ने कहा–"यदि आप न बोलें तो आपके शिष्य हम लोग दूसरो को क्या वतायेंगे?" गुरु ने उत्तर दिया––"स्वर्ग की भाषा क्या है? चारो ऋतुयें अपना काम करती है, सभी चीजें विकसित होती है, फिर भी स्वर्ग—ईश्वर—क्या बोलता है?"[१] श्री कन्फ्यूशियस कहते हे––"ईश्वर का विधान अनन्त है। आप सूर्य और चन्द्र को अनन्त गति से एक-दूसरे का अनुगमन करते देखते है—यह ईश्वर का विधान है। इस विश्व में जीवन की गति कभी रुकती नही और वह सतत सचरित है—यह ईश्वर का विधान है। बिना किसी प्रयास और वाधा के वस्तुओ की सृष्टि होती रहती है, यह ईश्वर का विधान है। जब वस्तुओ की सृष्टि या उनका निर्माण होता है तो सृष्टि विभासित होती है—यह ईश्वर का विधान है।" ससार की व्यवस्था और उसको प्रगति ईश्वर के विधान को प्रदर्शित करती है। "मुझमें जो सद्गुण है उन्हे ईश्वर ने उत्पन्न किया है।"[२] "जव ईश्वर ही अभी सत्य के इस उद्देश्य को नष्ट करने के लिए तैयार नही है तो कुआग के लोग मेरा क्या कर सकते है?"[३] "जव मेरे पास कोई भी श्रद्धालु शिष्य नही है तव भी ऐसे शिष्यो के होने का दावा करके मै किसको धोखा देता हूँ? क्या मै स्वर्ग को—ईश्वर—को धोखा देता हूँ?"[४] "जो स्वर्ग के विरुद्ध—ईश्वर के विरुद्ध-पाप करता है उसके लिए कोई स्थान शेष नही रहता जहाँ वह प्रार्थना

[१] Analects, XVII 19
[२] Analects, VII 22
[३] IX. 5
[४] IX II

कर सके।"[1] जब श्री कन्फ्यूशियस के प्रिय शिष्य येन युआन की मृत्यु हुई तो वे चिल्ला उठे—"हन्त ! स्वर्ग ने—ईश्वर ने ! मुझे वियुक्त कर दिया ! ईश्वर ने मुझे वियुक्त कर दिया !"[2] श्री कन्फ्यूशियस ने कहा था—"पन्द्रह वर्ष की अवस्था में मैंने अपना मन ज्ञानार्जन में लगाया। ३० वर्ष की अवस्था में मैं दृढतापूर्वक खड़ा हो सका। ४० वर्ष की अवस्था में मैं सशय-मुक्त हुआ। ५० वर्ष की अवस्था में मैं ईश्वरेच्छा समझ पाया।"[3] उन्होने और भी कहा—"एक उच्चकोटि का मनुष्य तीन बातो को भय और आदर की दृष्टि से देखता है—ईश्वर की इच्छा को, महान् व्यक्ति को और सन्तो की आज्ञाओ को।"[4] जब वे सख्त बीमार थे तो उनके शिष्यो में से एक ने मन्दिर में जाकर प्रार्थना करने को कहा, उन्होंने उत्तर दिया कि वे बडे लम्बे अरसे से प्रार्थना करते रहे है। उनका सारा जीवन ही एक प्रार्थना था। ईश्वर की इच्छा पूरी करना सर्वोत्तम प्रार्थना है। वे अनन्त से समन्वित रहते थे। जब श्री कन्फ्यूशियस ने कहा—"खेद है, ऐसा कोई नही है जो मुझे जानता हो—समझता हो," तो एक शिष्य ने पूछा कि उनका मतलब क्या था, और उन्होंने उत्तर दिया—"मै ईश्वर के विरुद्ध उलाहना नही करता। मैं मनुष्य के विरुद्ध भी उलाहना नही करता। मेरा अध्ययन विनत है—और मेरा दर्शन अदृष्ट। लेकिन ईश्वर तो है, वह मुझे जानता है।"[5]

---

[1] III. 13
[2] IX 8.
[3] II 4
[4] XVI 8
[5] Giles Religions of Ancient China (१९०५), पृष्ठ ३५।

१९२५

यद्यपि श्री कन्फ्यूशियस ने देवताओ के सम्बन्ध मे परिभाषाओ और विवादो के झझट में पडने से इनकार किया था फिर भी परम्परा द्वारा प्रतिष्ठित कर्तव्यो का वह श्रद्धापूर्वक पालन करते थे। जब उनसे पूछा गया कि ज्ञान क्या है तो उन्होने उत्तर दिया--"मनुष्यो के प्रति अपने कर्तव्यो को सत्यनिष्ठा के साथ पूरा करने में अपने आपको लगा देना और दैवी शक्तियो का सम्मान करते हुए भी अपने आपको उनसे अलग रखना—इसे ज्ञान या विवेक कहा जा सकता है।"[१] यद्यपि उन्होने यह बात कही थी फिर भी "वह मृतात्माओ के प्रति ऐसे वलिदान करते थे मानो वे उनके सम्मुख उपस्थित है। और देवताओ के प्रति भी ऐसे बलिदान करते थे मानो वे स्वय सचमुच देवताओ के सम्मुख उपस्थित है।"

मानवतावाद की अपर्याप्ति

श्री कन्फ्यूशियस निस्सन्देह एक धार्मिक व्यक्ति थे। उनमें वे गुण थे जिन्हें हम एक धार्मिक चरित्र से सम्बन्धित मानते है—एक उदार

---

[१] एक प्रारम्भिक फ्रासीसी विद्वान् श्री बत्राऊ ने एक दिन सडक पर जाते हुए एक क्रास (क्रूसीफिक्स) को देख कर अपनी टोपी उतार ली। यह देखकर उसके मित्रो को आश्चर्य हुआ। वे बोले—"अच्छा तो हमारी आशाओ से अधिक अब आप परमात्मा के साथ अच्छे सम्बन्ध मे है।" उत्तर मिला-—"विनय के सम्बन्धो में हम लोग बात नही करते।" अदृश्य जगत् के प्रति श्री कन्फ्यूशियस का दृष्टिकोण 'सम्मानपूर्ण, पर परिचित नही, श्रद्धापूर्ण पर कामनापूर्ण नही' रहा--The Three Religions of China लेखक Soothill (1929), पृष्ठ ३१।

भावना, सामाजिक परिस्थितियों में सुधार करने की आकांक्षा और ज्ञान के प्रति प्रेम। अतिवादों से उन्हें अरुचि थी। जब कोई कुख्यात युवक उनके पास पहुँचता और उसकी मनोदशा ठीक-ठीक होती तो वे उसे अपना शिष्य स्वीकार कर लेते थे, और जब उनके शिष्य उनके इस कार्य की विवेकशीलता पर सन्देह करते तो वे कहते—"अपने विचारों में आप लोग इतने अतिवादी क्यों हो?" उन्होंने परम्परागत धार्मिक विचार स्वीकार कर लिये थे और धार्मिक कृत्यों का पालन करते थे। यदि धार्मिक विषयों पर उन्होंने मौन ग्रहण किया था तो इसलिए कि इन विषयों के सम्बन्ध में उन्हें कोई नई बात नहीं कहनी थी। उन्होंने एक नवीन सामाजिक दृष्टिकोण की माँग की थी न कि नवीन धार्मिक दृष्टिकोण की। वे एक धार्मिक विचारक नहीं थे, इसलिए उन्होंने लोकोत्तर या अलौकिक विषयों की अधिक व्याख्या नहीं की। ऐसा लगता है कि उन्होंने हमें एक ऐसी धर्म-निरपेक्षता दी है जिसमें मनुष्य पर विश्वास है—उस मनुष्य पर जिसका निर्माण समाज के लिए हुआ है। समाज से बाहर वे मनुष्य का अनुसरण नहीं करते। उनके धार्मिक विचारों और धर्माचारों का उनके नैतिक और सामाजिक विचारों के साथ सग्रथन करके कोई विशिष्ट पद्धति नहीं बनी। उनका धर्म एक आचार-धर्म मालूम होता है। उनके उपदेशों में धर्म-निष्ठा या पुण्यश्लाघा की ज्योति नहीं दिखाई देती। मानव-अस्तित्व के अन्तर्तम की उपेक्षा सभी मानवतावादी नीतिशास्त्रों का तात्त्विक दोष है। श्री कन्फ्यूशियस की यह स्वीकृति ठीक है कि जीवन का शिवत्व जीवन के मान-महत्त्वों की सुरक्षा उनके, प्रसार और विकास में है। किन्तु इन मान-महत्त्वों की पृष्ठ-भूमि क्या है? श्री कन्फ्यूशियस इसका उत्तर नहीं देते। एक दार्शनिक दृष्टिकोण की खोज हमारी प्रकृति की एक

आवश्यकता है। ऐसी पद्धति एक स्थायी सामाजिक व्यवस्था बनाने मे सर्वदा असफल रही है और असफल रहेगी जो मनुष्य के लिए एक धार्मिक विश्वास तथा मनुष्य के उद्भव और उसके अन्त सम्बन्धी अनन्त प्रश्नो के सुझाव की आवश्यकता पर ध्यान नही देती।

और फिर श्री कन्फ्यूशियस चाहते है कि हम अपनी प्रकृति की पूर्णता प्राप्त करे। किन्तु मनुष्य के आध्यात्म का निषेध करनेवाला मानव-प्रकृति-सम्बन्धी हर दृष्टिकोण अपूर्ण है। एक ऐसी आध्यात्मिकता है, चिरन्तन मूल्यो की एक ऐसी श्लाघा है जो मानव-मस्तिष्क के लिए सहज है। मनुष्य को उस परम दर्शन से दूर ले जाने की कोशिश, उनके कर्तृत्त्व को इस प्रयोग-सिद्ध विश्व में सीमित करना और सर्वेश की चर्चा का बिलकुल निषेध करना-मनुष्य को मनुष्य की कोटि से नीचे गिराना है। वह हर विचार-पद्धति असन्तोषप्रद है जो मानव-प्रकृति के इस पक्ष की उपेक्षा करती है।[1]

श्री कन्फ्यूशियस कहते है कि उन्हे दुखी बनानेवाली बातें ये है —"कि सद्गुणो का अर्जन नही किया जाता, कि ज्ञान सुस्पष्ट नही बनाया जाता, कि लोगो को कर्तव्य बोध होता है पर वे उसका पालन नही करते और यह कि लोगो में बुराइयाँ है और वे उन्हें सुधारने का कोई प्रयत्न नही करते।"[2] सन्त जॉन के उपदेश के इस उद्धरण से

---

[1] अपने गुरु कन्फ्यूशियस के सम्बन्ध में श्री त्सू कुंग ने कहा—"यह तो सम्भव है कि हम गुरुदेव को साहित्य या विद्याओ और संस्कृति के बाह्य तत्त्वो पर बोलते हुए सुनें पर यह हमारा सौभाग्य नही है कि मानव-प्रकृति या ईश्वरीय विधान पर बोलते हुए हम उन्हें सुने।" Edwards द्वारा रचित Confucius' (1940), पृष्ठ ६० देखिये।

[2] Lun Yu, VII 3

हम लोग परिचित हैं—"भर्त्सना की बात तो यह है कि संसार में प्रकाश तो आया किन्तु लोगो ने अन्धकार ही पसन्द किया क्योकि उनके कारनामें काले थे।" हम सुन्दर और पवित्र चीज़ो को देखते है, लेकिन हम चुनते है क्षुद्र और कुटिल को। मनुष्य की दुखद कथा तो यह है कि उसकी प्रकृति विकृत और पतित हो गई दिखाई देती है। हिन्दू-विचार-धारा में जब मनुष्य से ज्ञान या विवेक-सिद्धि को कहा जाता है, जब बुद्ध हमसे बोधि या ज्ञान-प्रकाश प्राप्त करने की बात कहते है, तो वह हमसे एक आध्यात्मिक आयास की माँग करते है, वे हमे ऐसा ज्ञान प्राप्त करने की बात कहते है जो विद्वानो को सरल मनुष्यो की अपेक्षा कम विनम्र नही बनाता। यह चिन्तनमूलक ज्ञान तर्कमूलक विचार मे भिन्न है। हमारे भीतर की आत्मा ही हमे आध्यात्मिकता के स्तर तक उठा सकती है। एक महान् आन्तरिक परिवर्तन हमें सहन करना होगा। श्री कन्फ्यूशियस ने जिन नैतिक नियमो की प्रतिष्ठा की है उनका सम्यक् पालन तभी सम्भव है जब धर्म के माध्यम से हमारा पुनर्जन्म हो। श्री कन्फ्यूशियस स्वर्ग या ईश्वर की इच्छा के सम्मुख विनम्रता और समर्पण की आवश्यकता स्वीकार करते है। प्राकृतिक मनुष्य के ऊपर नियत्रण रखने के लिए हमें किसी उच्च शक्ति—स्वर्ग की शक्ति—का सहारा खोजना होगा। यही शक्ति मनुष्य मे नियामिका शक्ति बनकर काम करती है। मनुष्य के भीतर वह आत्मा, जो मनुष्य की अनियन्त्रित पिपासाओ को निश्चित, नियन्त्रित और सीमित बनाती है, हमारे भीतर दैवी तत्त्व की स्थिति का प्रमाण है। अपने अस्तित्व के अन्तर्तम में हमे उस देवात्मा का भान होता है एक ऐसे नैतिक सकल्प के रूप में, जीवन और प्रकृति

के प्रति जिसकी भावना स्वीकारात्मक होती है।[1] आज कल ऐसे मानवतावादी है जिन्हे नैतिक आदर्शो की शक्ति पर, परम्परा के महत्त्व पर और अन्तर्राष्ट्रीय सद्व्यवहार पर विश्वास है। और यह सब कन्फ्यूशियस के मत के अग है, किन्तु यह सब आन्तरिक पवित्रता की वाह्य अभिव्यक्तियाँ है। धर्म ही मनुष्य का सत्य स्वभाव है। यह स्वभाव स्वर्ग पर आधारित है और धरती पर उसका कर्तृत्व सामाजिक कर्तव्यो (ली) द्वारा प्रगट होता है। यही सामाजिक कर्तव्य पारस्परिक विश्वास और सामजस्य स्थापित करते है। श्री कन्फ्यूशियस हमारे सम्मुख एक सन्त-सम्राट् का आदर्श रखते है, वह जिसमें एक सन्त की विवेकशीलता और शान्ति के साथ एक शासक की कार्यकारिणी विभूतियो का सम्मिलन हुआ हो—कृष्ण के योग के साथ अर्जुन के धनुष का मेल मिला हो।[2] उनके विचारोमें एक गम्भीर दृढता है, एक आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि है, किन्तु चूँकि उन्होने उसको विवृत्ति नही की इसलिए यह काम उन्होने अपने शिष्यो व अनुयायियो पर छोड दिया कि यद्यपि वे उनके सामाजिक नीति-शास्त्र को एक आध्यात्मिक पृष्ठभूमि देकर उसे स्थिरता और लक्ष्य प्रदान करें। ऐसा करने में उनके शिष्या ने श्री कन्फ्यूशियस के विचारो में निहित तत्वो का ही अनुसरण किया। उनकी दृष्टि में मनुष्य की प्रकृति का मूल स्वर्ग में है। स्वर्ग की—ईश्वर की—इच्छा की स्वीकृति और अनुचारिता गुण है, विभूति है, उसका उल्लघन दुर्गुण है, बुराई है। यदि हम धरती पर स्वर्ग-साम्राज्य स्थापित करना चाहते है तो इसका अर्थ है कि हमें मनुष्यो के बीच ठीक-

---

१ श्री अरस्तू ने हमें बताया है—"यह ठीक है कि यद्यपि हम मर्त्य है फिर भी यथा सम्भव हमें ऐसे जीना चाहिए मानो हम अमर है।"

२ भगवद्गीता का अन्तिम श्लोक देखें।

ठीक सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए।[1]

श्री मो-त्सू ४७०-से-३६० ई० पू०

श्री मो त्सू कन्फ्यूशियस के एक अल्पवयस्क समकालीन थे। उन्होंने रूढिवादी कन्फ्यूशियनवाद का यह कहकर विरोध किया कि वह ईश्वराचिन्त्यवादी और भाग्यवादी है। उन्होंने शंग-ती की उपासना में सुधार किया और उसके प्रयोग को विस्तृत किया। वह एक व्यक्तिरूप ईश्वर में विश्वास रखते थे जो संसार का शासन करता है, और उन्हें आत्मिक सत्ताओं के अस्तित्व और उनके कर्तृत्व पर विश्वास था। स्वर्ग की इच्छा यह है कि हम सर्वत्र सब मनुष्यों से प्रेम करें। विश्व-प्रेम एक धार्मिक कर्तव्य है।

श्री मो-त्सू उस कन्फ्यूशियन नीति की आलोचना करते हैं जिसके अनुसार मनुष्यों को एक हीनक्रम में प्रेम करना बताया गया है, माता-पिता से प्रारम्भ करके जिन्हें सबसे अधिक प्यार करना है,

---

[1] श्री जिल्स लिखते हैं—"परिणामों के आधार पर आँकने से उनका जीवन कभी भी किसी भी मनुष्य द्वारा जिये गये सर्वाधिक सफल जीवन के तुल्य था—उनकी मृत्यु के बाद मन्द पर अबाध गति से सुदूर व्यापी और अतुलनीय महत्ता के परिणाम दिखाई दिये। अपने विश्वव्यापी प्रभाव की दृष्टि से तीन और केवल तीन ही व्यक्ति उनकी तुलना के योग्य हैं, मनुष्यों के बीच गौतम का आत्माहुतिपूर्ण जीवन, अरब के पैगम्बर का अशान्त और प्रबल चरित्र और वह पाप मुक्त जीवन जिसका अन्त गॉलगॉथा में हुआ (ईसा)।"—The Sayings of Confucius (१६२४), पृष्ठ ३६।

विदेशियो से समाप्ति होती है जिन्हें सबसे कम प्यार करना है। वे कहते है "यदि एक शासक अपने पडोसी देश पर हमला करता है, वहाँ के निवासियो की हत्या करता है, उनके जानवरो, घोडो, उनके धन-धान्य और वर्तन-भाँडे सबका अपहरण कर ले जाता है तो उसके इस कृत्य को काष्ठ-पट्टो और रजत-पट्टिकाओ पर लिखा जाता है, धातु-पट्टो और प्रस्तर-पट्टो पर यह गाथा अकित की जाती है, घण्टो और त्रिपादो पर वह गाथा लिखी जाती है और वाद में यह सब उसके पुत्र-पौत्रो को विरासत मे मिलते है। वह गर्व करता है—'कोई भी इतना लूट का माल नही ला सका जितना मै लाया।' लेकिन कल्पना कीजिये कि कोई व्यक्ति अपने पडोसी के घर पर हमला करे, घर के सभी व्यक्तियो की हत्या कर डाले, पडोसी के जानवरो, उसके धन-धान्य और वस्त्रो को उठा ले जाय और तव अपने इस कृत्य को काष्ठ पट्टो, रजत-पट्टिकाओ, अपने घर के वर्तनो आदि पर अकित करादे ताकि वे उसके पुत्र-पौत्रो को आनेवाली पीढियो में विरासत में मिलें और वह इस वात पर गर्व करे कि जितना उसने लूटा या चुराया उतना और किसी ने नही, तो क्या यह सव ठीक होगा?" 'लू' के शासक ने कहा—"नही। और आपने इस वात को जिस ढग से रखा है, उस दृष्टि से देखने पर तो ऐसी तमाम वातें जिन्हें ससार विलकुल ठीक मानता है, जरूरी नही कि कतई ठीक हो।"[१] वह ससार जो छोटे-छोटे अपराधो या दुष्कार्यो की भर्त्सना करता है और महान् पाप—युद्ध की प्रशसा करता है, वह सत् और असत्, भले और वुरे का ठीक-ठीक विवेक नही रखता। लेकिन दुराग्रही ससार में हम एक-एक

---

[१] Waley Three Ways of Thought in Ancient China (१६३६), पृष्ठ १७५।

कदम ही आगे वढ मकते है और क्रम-क्रम मे ही हम सहानुभूति की सीमाओ का—उसके सकोच का—अन्त कर सकते है। श्री कन्फ्यूशियस को मानव-स्वभाव की गूढता का अधिक बोध था।

श्री मो-त्सू को इस वात का विश्वास था कि मनुष्य का मृत्यु के वाद भी सचेतन अस्तित्व रहता है इसीलिए वह मृतको और उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया से सम्वन्धित प्रथाओ को वैसा महत्त्व नही देते थे जैसा कि श्री कन्फ्यूशियस देते थे। उनके मत का सामान्य दृष्टिकोण कुछ कठोर और तपस्यापरक है। श्री मेन्शियस ने, जो श्री मो-त्सू की आलोचना भी करते है, उनकी वडी प्रशसा की है, "मो-त्सू सभी मनुष्यो से प्रेम करते थे और मानवता के हित मे वे अपने आपको खपा देने के लिए तैयार थे। अपने सेवापरायण लम्बे जीवन मे उन्होने अपने शान्ति-व्रत में कठिनाइयो को सहा और विरोध का सामना किया।"[१]

श्री मेन्शियस

श्री मेन्शियस को मो त्सू के सिद्धान्तो का खण्डन करना पडा। श्री मो त्सू ने ससार की वुराइयो का हल विश्व प्रेम वताया था। मेन्शियस को यागत्सू के सिद्धान्तो का भी खण्डन करना पडा जिन्होने सामाजिक ममलो की नितान्त उपेक्षा का उपदेश दिया था और सलाह दी थी कि समाज से सम्वन्धित सभी चीजो मे मनुष्य को पूर्ण विरक्ति अपनानी चाहिए। श्री कन्फ्यूशियस द्वारा प्रतिष्ठित नैतिक और सामाजिक मूल्यो का समर्थन करते हुए मेन्शियस ने एक रहस्य-

---

[१] Mencius, VII 1 26

वादी आदर्शवाद का विकास किया। ची प्रदेश के ताओवाद से वह बहुत प्रभावित हुए थे और उससे उन्होने श्वास-सयम या प्राणायाम की प्रक्रिया सीखी थी यद्यपि वह इन प्रक्रियाओ को आत्मिक अनुशासन मे निम्नस्थ मानते थे। चीन और भारत के लोगो का बहुत प्रारम्भिक समय से यह सामान्य विश्वास है कि गहरी और नियमित श्वास-प्रक्रिया मस्तिष्क को शान्त रखती ह और एकाग्र-चिन्तन में सहायता देती है। श्री कन्फ्यूशियस की भाँति मेन्शियस एक सर्वोपरि सत्ता स्वीकार करते है जिसे वह स्वर्ग कहते है। वह कारणो का कारण, प्रथम कारण है। मनुष्य की प्रकृति स्वर्ग की देन है और इसी-लिए तत्वत सद्रूप है या भली है। बुरे कर्म हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियो के विरुद्ध है। प्राकृतिक शक्तियो, पूर्वज़ो व कुल-देवताओ के पूजा-सम्बन्धी अन्य प्रश्नो में मेन्शियस कन्फ्यूशियस के अनुयायी है। उनका मत है कि मनुष्य की आत्मा विश्व की आत्मा के साथ एक-रूप है, मनुष्य स्वय मे ही एक लघु विश्व—बिन्दु में सिन्धु है। इस विश्व से वह किन्ही कठोर विभेदो द्वारा विभाजित नही है। "सभी वस्तुयें हमारे भीतर पूर्ण है।"[१] ईश्वर का साम्राज्य मनुष्य के भीतर है। मनुष्य अपने अज्ञान और तज्जन्य स्वार्थ के कारण अपने आपको उस विश्व से पृथक् अनुभव करता है। जब वह अपने स्वार्थ को छोड देता है, जब वह बाधाओ को नष्ट कर देता है और नि स्वार्थ प्रेम का विकास करता है तो वह विश्व के साथ अपनी एकरूपता का अनुभव करता है।

एकता की यह अनुभूति बौद्धिक प्रक्रिया का फल नही है। श्री मेन्शियस ज्ञान के दो रूपो[२] में अन्तर मानते है, एक तो वह जो मस्तिष्क

---

१ Mencius. VII a 4
२ Ibid., VII 1 15

की प्रक्रिया का फल है और दूसरा वह जो आत्मा का ज्योतिर्भास है और जो मस्तिष्क की प्रक्रिया शान्त कर देने पर प्राप्त होता है। यही उच्चतर विवेक है, उपनिषदो की परा विद्या है। मेन्शियस हमे उपदेश देते है कि हम अपनी प्रातिभ शक्तियो को प्राप्त करें, जीवन की दौड-धूप में इन शक्तियो का विकास का अवसर नही मिलता। श्वास सयम या प्राणायाम, मानसिक एकाग्रता और आत्मिक अनुशासन के साधन से हम आध्यात्मिक स्तर तक उठ पाते है। एक प्रशान्त विवेक या चेतना आत्मा के विकास का सर्वोत्तम सहाय है। मेन्शियस के मत में सत्-असत्-विवेक-भावना ताओ कहलाती है। आत्मिक दृष्टि से महान् पुरुष वह है जो अपने शिशु-हृदय को सुरक्षित रख सका है।[1] मेन्शियस का कहना है कि आपदायें और दु ख हमारी अपनी सृष्टि है, और इस कथन के समर्थन में वे 'गीत'—'ओड' का यह उद्धरण देते है—"निरन्तर दैवेच्छा के साथ एकरस रहने का प्रयत्न करो। और उसी से अपने लिए अत्यन्त आनन्द प्राप्त करो।"[2] समस्त या समष्टि के साथ एकता की अनुभूति में व्यक्ति अपने आप को विश्व का एक अभिन्न अग अनुभव करने लगता है। जिसने एकता की अनुभूति कर ली है वह समूचे ससार से प्रेम करता है। "मानव हृदयतापूर्ण मनुष्य का धरती पर कोई शत्रु नही होता।"[3] श्री कन्फ्यूशियस तो शासको के दैवी-अधिकार का नैतिक समर्थन करते है, पर मेन्शियस शासक-वर्ग के विरुद्ध विद्रोह के नैतिक अधिकार का समर्थन करते है और यदि शासको के आज्ञा-पालन का अर्थ पाप-पूर्ण परिस्थितियो की स्वीकृति हो तो वे क्रान्तियो

---

[1] Mencius IV 2.12
[2] Ibid, II 1, IV. 5 6
[3] Ibid, VII b 3

को भी न्याय्य ठहराते है।

श्री चू-सी

चेंग-बन्धुओ[१] से अत्यधिक प्रभावित होकर श्री चू-सी ने कन्फ्यूशियस के आदेशो की फिर से व्याख्या की और यह सिद्ध किया कि वे उपदेश लोगो की बौद्धिक पिपासा और आध्यात्मिक आवश्यकताओ को तुष्ट कर सकते है। महान् परम्पराओ पर किये गये आग्रह को चू-सी ने विवेक की स्वीकृति मे बदल दिया। सत्य हमे सद्जीवन से उतना नही प्राप्त हो सकता जितना सद्चिन्तन से। उन्होने एक ऐसे दार्शनिक मत का विकास करने का प्रयत्न किया है जिसमे बुद्धिवाद और रहस्यवाद का सयोग है। वे बौद्ध विचार-धारा से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे, यद्यपि वे उसकी आलोचना भी करते है। वे कहते है— "हमे सुदूर और खोखली चीजो की चर्चा करने की आवश्यकता नही है, यदि हम ताओ (धर्म) की वास्तविकता जानना चाहते है तो हमे वह तत्त्व अपनी प्रकृति के भीतर खोजना चाहिए। हम मे से प्रत्येक के भीतर सद्सिद्धान्त है, इसे हम ताओ कहते है, यही वह मार्ग है जिस पर हमे चलना चाहिए।"[२] मनुष्य और ससार की प्रकृति की व्याख्या वह शुद्ध तत्त्व या परम तत्त्व से प्रारम्भ करते है—उससे जो सब पदार्थो का स्रोत और आत्मा है, और वे उस अनस्तित्व से भी प्रारम्भ करते है जो हमारे पदार्थ-विश्व की शक्ति-सत्ता है।

---

१ चेग हाओ (१०३२-१०८५ ई०) और चेंग प्रथम (१०३३—११०७ ई०)।

२ E T. by Bruce.

प्राचीन कन्फ्यूशियन धर्म दो मतो में विभाजित था। इनमें से एकमत की मान्यता थी कि मनुष्य की प्रकृति जो स्वर्ग के आदेश से निर्धारित है तत्त्वत सद्-रूप है। दूसरे मत की मान्यता थी कि मनुष्य की प्रकृति असत् या बुरी है। चू-सी यह बात मानते है कि मनुष्य के भीतर दो सिद्धान्त है, एक तो आध्यात्मिक जो उसकी तात्त्विक प्रकृति है और जो स्वभावत शिव है, और दूसरा पदार्थ या भौतिक सिद्धान्त जो आत्मा को व्यक्तित्व का आच्छादन देने के लिए आवश्यक है। यह पदार्थ गुण-भेद से विविध है, यह अधिक घना या सूक्ष्म है, अधिक सम्पन्न या दीन है, और यही अन्तर मनुष्यो के बीच विभेदो के कारण है। पदार्थ की अभिव्यक्ति मनुष्य की प्रेरणाओ और इच्छाओ में होती है। आत्मिक तत्त्व की इन भौतिक अभिव्यक्तियो का नियत्रण ही हमारी नैतिक या धार्मिक समस्या है। नव-कन्फ्यूशियन नीति-शास्त्र की कठोर तापसवृत्ति का कारण यही दृष्टिकोण है।

अस्तित्व और अनस्तित्व, आत्मा और पदार्थ, पतन और उत्थान की चिरन्तन शृखला में आबद्ध विश्व-काल पदार्थ के विविध सजीव स्वरूपो में परिवर्तन तथा बुराई के प्रतिफल सम्बन्धी श्री चू सी के सिद्धान्तो में बौद्ध-धर्म का गम्भीर प्रभाव प्रगट होता है। कन्फ्यूशियस-वाद से बहुत शीघ्र दो विचार-धारायें विकसित हुईं—एक तो चिन्तन-मूलक, जिसका सम्बन्ध आत्मिक या नैतिक शिक्षण से था और दूसरी वैज्ञानिक, जिसका उद्देश्य ससार का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना था। पहली विचार-धारा पर ताओ-धर्म और बौद्ध-धर्म का बहुत प्रभाव पडा। आगे चलकर यह दोनो विचार-धारायें स्वतत्र मतो में विकसित हुईं।

(वाग पी प्रथम) से लेकर अट्ठारहवी शताब्दी तक इस ग्रन्थ की अनेक टीकायें हुई है। सभी टीकाओ में अपने मतो के अनुसार मूल ग्रथ की व्याख्या की गई है। ताओवाद का विकास करने वाले प्रधान विचारक है श्री ली त्सू (चौथी शती ई० पू०) और श्री चुआग त्सू जो श्री मेन्शियस के समकालीन थे (चौथी और तीसरी शती ई० पू०) और जो सर्वाधिक मौलिक चीनी दार्शनिको मे से एक है। उन्हें सासारिक कार्य-कलापो से घृणा थी और एकान्त जीवन मे तपश्चर्या द्वारा आत्म-सस्कार पर उन्हें विश्वास था। उनकी रचनायें यद्यपि कल्पनाशक्ति और सत्य-निष्ठा-सम्पन्न है फिर भी वे उन लोगो में जन-प्रिय न हो सकी जो जीवन में आगे बढना चाहते थे। फिर भी वे सक्रिय जीवन से अवकाश लेनेवाले वृद्ध जनो के लिए अपार शान्ति-सुख का स्रोत बनीं।

ताओवाद का अध्यात्म

ताओवाद के केन्द्रीय विचार उपनिषदो के विचारो से मिलते-

दूसरा व्यक्ति अपने आपको जीतता है तो यह दूसरा सबसे महान् विजेता है" (१०३)। और फिर,—"कामना उत्पन्न करनेवाले पदार्थों को देखने से बढकर दूसरा कोई पाप नही, असन्तोष से बढ कर दूसरी कोई बुराई नही, लोभ से बढकर दूसरी कोई आपदा नही"—ताओ ते चिग, IVL २। "कामुकता जैसी कोई अग्नि नही, घृणा-जैसी कोई चिनगारी नही, मूर्खता जैसा कोई जाल नही और लोभजैसा कोई अधोगामी प्रवाह नही।" धम्मपद, २५१। और फिर,—"इसलिए यदि हम एक गाडी का निर्माण करनेवाले उसके सभी अग अलग-अलग आपको गिना दें तो उससे तो गाडी कतई नही मिलती।" इसकी तुलना मिलिन्दपण, II. 1. I से करें।

जुलते है। ससार की दैवायत्तता और एक परम तत्त्व की वास्तविकता दोनो में सामान्य है और न्यूनाधिकरूप मे समान पद्धति से दोनो में उन पर विचार किया गया है।

श्री लाओ त्सू ने 'दि वुक आफ चेन्जेज' को अपना आधार बनाया है। इस ग्रन्थ की धारणा यह है कि धरती पर की सभी घटनायें निरन्तर चलस्थिति में या परिवर्तनशील है जैसे सरिता का जल जो अविरत गति से बहता रहता है। जब पतझड आता है तब "कोई एक भी पत्ती अपने सौन्दर्य के कारण या एक भी पुष्प अपनी सुरभि के कारण छोड नही दिया जाता है।" इन विविध परिवतनो के पीछे एक परम सत्य है जिसका तत्त्व अगाध और अज्ञेय है और जो फिर भी अपने आपको प्रकृति के विधानो मे व्यक्त करता है। प्रकृति के इस इन्द्रियगम्य पदार्थ-जगत् के पीछे अवस्थित इस तात्त्विक सिद्धान्त को कोई नाम दे देना दुरूह है, यद्यपि काम चलाने के लिए हम उसे ताओ कहते है। कन्फ्यूशियस ताओ को जीवन मार्ग कहते है। लाओ त्सू की दृष्टि में ताओ जीवन-मार्ग से अधिक है।[1] ताओ वह वास्तविकता है जो अनादि

---

[1] ताओ के सम्बन्ध में सर राबर्ट डगलस कहते है—'लेकिन ताओ मार्ग से बढकर है। वह पथ भी है और पथिक भी। वह चिरन्तन मार्ग है जिस पर सभी अस्तित्व और पदार्थ चलते है लेकिन किसी ने भी उसका निर्माण नही किया क्योकि वह तो स्वय ही अस्तित्व है, वह सब कुछ है और कुछ नही है और जो कुछ है उस सबका कारण और परिणाम है। सभी पदार्थो की उत्पत्ति ताओ से है, ताओ के अनुकूल सबकी स्थिति है और सबका लय ताओ मे है।" इस वर्णन की तुलना तैत्तिरीय उपनिषद् में किये गये ब्रह्म के वर्णन से कीजिए—"ब्रह्म से ही सब अस्तित्वो की उत्पत्ति है, ब्रह्म से ही उनकी स्थिति है और ब्रह्म मे ही उनका लय है।" III

"निराकार पर पूर्ण रहा कुछ
गगन-धरा का भी अस्तित्व न था जब;
शब्द-हीन वह, वस्तुभाव से शून्य
रहा आश्रित वह किसके और कहा कब ?

वह परिवर्तनहीन ओघ था
सर्वव्यापी था, अमोघ था।"[1]

श्री चुआग-त्सू ताओ के सम्बन्ध में लिखते है—"ताओ म वास्तविकता है और साक्ष्य है, कर्म और रूप नही है। उसका अन्त-सचरण हो सकता है पर उसे ग्रहण नही किया जा सकता। उसकी प्राप्ति हो सकती है पर उसे देखा नही जा सकता। उसका अस्तित्व आत्म-स्वरूप आत्म-स्थित है। उसका अस्तित्व स्वर्ग और धरती से भी पहले था और निश्चय ही चिरन्तन है। वह देवताओ की उद्भावना और मसार की उत्पत्ति कराता है। वह खम्मण्डल के शीर्ष से भी ऊपर है पर फिर भी ऊँचा नही है। वह सृष्टि के अधोविन्दु से भी नीचे है पर फिर भी नीचा नही है। वह स्वर्ग और धरती से भी पूर्वकालीन है, पर फिर भी पुराना नही है। सर्वप्राचीन से भी वह प्राचीन है, पर फिर भी बूढा नही है।"

ताओ के नकारात्मक और परस्पर-विरोधी वर्णनो से यह निष्कर्ष नही निकलता कि वह अनस्तित्वमात्र है। वह जीवन और गति के सभी स्वरूपो को उत्पन्न करता है।

"वह अगाध है,
जो कुछ है उस सबका सृष्टा परम पिता है।"[2]

[1] Tao Te Ching, XXV.

[2] Ibid, IV

"कर्म-शून्य वह,
पर उससे ही सर्व-कर्म-सम्पादन होता।"[१]

"वह—ताओ—आवृत अनाम है
पर सबका आधार, सभी को
पूर्ण-काम-पथ पर लाता है।"[२]

"वह—ताओ-पथ—अतुल और इन्द्रियाग्राह्य है,
पर उसमें ही
सर्व-रूप प्रच्छन्न और अन्तर्हित रहते।"

"स्वर्ग के नीचे धरनी पर के सभी पदार्थो का वह जन्म देनेवाला है।"[३] "अनाम से ही स्वर्ग और धरती उत्पन्न हुए।"[४] सभी द्वन्द्व, प्रकाश और अन्धकार, उष्ण और शीत उसी से उत्पन्न होते है।

यह पदार्थ-जगत् उस परम ताओ से किस प्रकार सम्बन्धित है, इसकी स्पष्ट विवेचना नही की गई। कुछ उद्धरणो में यह सकेत किया गया है कि यह ससार उस परम तत्त्व से स्खलन है। निम्नलिखित को देखिये —

"पतन परम पथ—ताओ—का हुआ था जब
जागी तभी मानव दया औ' धर्मशीलता।
जब चतुराई जगी, ज्ञान मिला मानव को
तभी महा-मायागार फैला नभ चीरता।"[५]

कुछ ताओमतवादी परम्परागत द्वैत मत को स्वीकार करते है और

१ Tao Te Ching, XXXVII
२ Ibid, XLI
३ Ibid, XXV
४ Ibid, I
५ Ibid, XVIII

के रूप में देदीप्यमान है। हम में से प्रत्येक को ताओ में फिर से समाहित हो जाने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि उसी से हमारी उत्पत्ति हुई है। अज्ञान के कारण हम ताओ के दर्शन नही कर पाते और सुख, शक्ति, सम्मान और सम्पत्ति प्राप्त करने का आयास करते है। जो अवास्तविक है उस सबकी हम कामना करते हैं। अपने आपको अपने मनोवेगो और अपनी इच्छाओ से मुक्त करके और अकृत्रिम जीवन अपना करके हम ताओ को जान सकते है। कामनाओ का त्याग ताओ है। कामना-मुक्ति हमें सच्ची शक्ति देती है।' "केवल वही व्यक्ति उस गूढ तत्त्व के दर्शन कर सकता है जो अपने आपको हमेशा के लिए कामना-मुक्त कर ले। जिसने कभी अपने को इच्छाओ से मुक्त नही किया वह केवल परिणामो को ही देख सकता है।" जब तक मानव-हस्तक्षेप से हम त्रस्त नहीं होते तब तक सब ठीक है। सुकरात के बाद कुछ यूनानियो ने प्रकृति (फ्यूसिस) और परम्परा (नोमॉस) के बीच कम-से कम इतना क्रान्तिकारी विभेद किया था जैसा ताओ-मतवादी चीनियो ने किया। बुराई का कारण उन्होने व्यक्ति में आत्मसयम की कमी में उतना नही देखा जितना सस्थाओ या परम्पराओ के दोष में। मनुष्य जब घटनाओ के स्वाभाविक प्रवाह में बाधा डालता है तभी दु खी होता है। अपनी कामनाओ और ज्ञान से हम प्रकृति की अकृत्रिमता या स्वत -प्रवाह में बाधा डालते है।[1] ताओवाद चाहता है

[1] जो जैसा है यदि मै उसे वैसा ही छोड दूँ तो लोग स्वय अपना सुधार कर लेंगे। यदि मुझे शान्ति से प्रेम हो, तो लोग अपने आप धर्मनिष्ठ हो जायेगें। यदि मै नफाखोरी छोड दूँ तो लोग अपने आप समृद्ध और सम्पन्न हो जायेगें। यदि मै अपनी इच्छाओ का दमन कर लूँ तो लोग अपने आप सरलजीवी बन जायँगे।"—Tao Te Ching, LVII

कि हम अपने समस्त ज्ञान और सारी इच्छाओ को छोडकर प्रकृति की गोद में वापस चले जायँ। इन्द्रिय-कामनाओ के पीछे जीवन बिताने के बजाय हमें उस केंद्र-बिन्दु को खोजना चाहिए जो इस निरन्तर गतिशील प्रवाह में स्थिर, अविनाशी और अपरिवर्तनशील है।

विपुल विवेक-विद्या-बोझ को उतार फेंको,
ज्ञानको भगाओ दूर दुख दूर भागेंगे।
शतधा अधिक लाभ होगा जन जीवन का,
शतधा अधिक जन मगल में पागेंगे॥
दूर करो मानव दयाको, धर्म शीलता को,
तब कर्त्तव्य शीलता के भाव जागेंगे।
भूत-अनुकम्पा-रत करुणा पुलक होगे,
जन जब विद्या-बोझ ज्ञान-कथा त्यागेंगे।

सरलता का उन्हें आदर्श दो, देखें,
अनुत्कृत-स्तम्भ का आधार दो कर में,
अह की शून्यता निस्वर्थता दो और स्वल्पेच्छा
सहज दो कामना से मुक्त भर मन में।[१]

हमें अपनी प्रकृति के अनुकूल रहना चाहिए, जैसे सागर उसाँस भरता है, जैसे फूल खिलता है।

जहाँ पदार्थ-दृष्टि से ताओ पदार्थ-विश्व में आन्तर्निहित मूल-एकता है वहाँ मानव-व्यक्तित्व मे वह शुद्ध चेतना है। अपने भीतर जो शक्ति है उसे जानने के लिए हमें अपने सामान्य अस्तित्व के स्तरो के पार देखना होगा और उस शुद्ध चेतना को प्राप्त करना होगा जो श्री चुआग त्सू के अनुसार बिना देखे देखती है, बिना सुने सुनती है और

---

१ Tao Te Ching XIX

विना सोचे समझती है। ताओ तक पहुँचने के लिए भारतीय योग से मिलती-जुलती एक प्रक्रिया सुझाई गई है। ताओ का प्रतिबिम्ब एक प्रशान्त सरोवर में ही पड सकता है। यह निस्तब्ध शान्ति प्राप्त करने के लिए हमें अपने अगो को शिथिल कर देना चाहिए, ऐन्द्रिय पदार्थों को भुला देना चाहिए, वाह्य स्वरूपो और पदार्थ-ज्ञान से परे निकल जाना चाहिए और उसमे रम जाना चाहिए जो सबमें रमा हुआ है।[1] चुआग त्सू योग की वह प्रक्रिया अपनाते है जिसके द्वारा आत्मा का वाह्य क्रिया-कलापो, इन्द्रिय-पिपासाओ और भावो से प्रत्यागमन होता है और चेतना के क्रमिक स्तरो को पार करते हुए अन्त म वह शुद्ध चेतना—"मन के भीतरवाले मन"—तक पहुँच जाती है। योग के आसन और प्राणायाम का उपदेश दिया गया है।[2] "द्वार खोल दो, अहम् को अलग हटाओ, शान्ति से प्रतीक्षा करो और आत्मा का प्रकाश आकर तुम्हारे भीतर अपना घर बना लेगा।" श्री चुआग त्सू कहते है—"व्यक्ति को सरिता-तट या एकान्त स्थानो में चले जाना चाहिए और वहाँ कुछ नही करना चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे वे लोग, जो वास्तव मे प्रकृति से प्रेम करते है और कर्म-मुक्त अवसर का आनन्द लेना चाहते है, कुछ नही करते। एक नियमित ढग से साँस लेना, फेफडो में भरी हुई वायु को वाहर निकालना और फिर उसे स्वच्छ वायु से भरना, मनुष्य को दीर्घजीवी बनाता है।" हमें उस शुद्ध तत्त्व को प्राप्त करना चाहिए, जो ज्ञेय से पृथक ज्ञाता है। "जानना तो सभी मनुष्य चाहते है, लेकिन वे उसे जानने की कोशिश नही करते जिसके द्वारा

---

[1] Chuang Tzu, VI 10, देखिये भगवद्गीता, ६, १०।
[2] Chuang Tzu, XV 1,

जाना जाता है।" इसमें कोई मन्देह नही कि ताओवादी यदि शुद्ध भारतीय योग नही तो उससे वहुत मिलती-जुलती प्रक्रियाओ का अभ्यास करते थे और वाद में तो निश्चय ही उनकी इस-प्रक्रिया पर भारतीय पद्धति का प्रभाव पडा। "दार्शनिक ची अपने स्टूल पर आसन लगाये बैठे थे, उनका सिर पीछे झुका हुआ था और वे वहुत धीरे-धीरे अपनी साँस वाहर निकाल रहे थे। वे अद्भुत ढग से निष्क्रिय और ध्यानस्थ मालूम हो रहे थे, मानो उनका एक अशमात्र ही वहाँ उपस्थित हो। येनचेग नामक उनका शिष्य उनके पास खडा था। उसने पूछा--'यह आपको क्या हो रहा था? अपने शरीर को आप कुछ समय के लिए एक लकडी के लट्ठे-जैसा और अपने मस्तिष्क को मृत अगार-जैसा वनाने मे समर्थ दिखाई देते है। अभी-अभी मैने जिसे इस स्टूल के सहारे पीछे झुकते देखा था, लगता है उसका उस व्यक्ति मे कोई सम्वन्ध ही नही है जो उसके पहिले इस स्टूल पर बैठा था।' ची ने उत्तर दिया--'तुम विलकुल ठीक कहते हो। अभी-अभी जव तुमने मुझे देखा था तव मेरे अह ने अपनी अहता खो दी थी,।"[१] 'एक दूसरे स्थल पर यह कहा गया है कि जव कन्फ्यूशियस लाओ त्सू से मिलने गये तो उन्होने उन्हे "इतना निष्क्रिय (देखा) कि वे कठिनाई से एक मनुष्य मालूम होते थे"। कन्फ्यूशियस ने कुछ देर तक प्रतीक्षा की, लेकिन थोडी देर में यह अनुभव करते हुए कि अपने आगमन की सूचना देने का अवसर आ गया है, उन्होने लाओ त्सू को सम्वोधित करते हुए कहा—"क्या मेरी आँखो ने मुझे धोखा दिया था या सचमुच वात यही थी? अभी-अभी आप मुझे एक निर्जीव प्रस्तर-

[१] Chuang Tzu, II 1 , Waley's E. T

खडमात्र मालूम होते थे—ऐसे जैसे लकडी का लट्ठा हो। ऐसा लगता था जैसे आपको किसी वाह्य पदार्थ का बोध ही नही रहा और आप कही अपने आपमें निमग्न थे।" लाओ त्सू ने कहा—"ठीक है, मै सृष्टि के प्रारम्भ की सैर कर रहा था।"[१] स्पष्ट है कि ताओवाद के निर्माण-काल में भारतीय प्रभाव बहुत महत्त्वपूर्ण हो चला था।[२]

यह विश्वास तो बहुत प्रसिद्ध था कि योगाभ्यास द्वारा हम असामान्य शक्तियाँ प्राप्त कर सकते है। श्री ली त्सू कहते है—"आत्यन्तिक शक्ति-सम्पन्न मनुष्य बिना जले हुए आग पर चल सकता है, बिना गिरे धरती

---

[१] Chuang Tzu, XXI 4.

[२] श्री वैली कहते है—"अब सभी विद्वान् इस बात से सहमत है कि तीसरी शती ई० पू० का साहित्य ऐसे भौगोलिक और पौराणिक विवरणो से भरा हुआ है जो भारत से प्राप्त हुए है। मुझे इस बात का कोई कारण नही दिखाई देता कि ली त्सू द्वारा वर्णित पवित्र पर्वतवासियो (शेंग-सीन) को भारतीय ऋषि मानने में सन्देह किया जाय, और जब चुआग त्सू के ग्रन्थोमें हम ऐसे ताओ मतवादियो का वर्णन पढते है जो हिन्दू योग आसनो से बहुत मिलती-जुलती प्रक्रियाओ का अभ्यास करते थे तो यह कम-से-कम एक सम्भावना जरूर मालूम होती है कि इन ऋषियो द्वारा प्रयुक्त योग-प्रक्रियाओ का कुछ ज्ञान चीन भी पहुँच गया था। यह कहा गया है कि व्यापारी लोग, जो निश्चय ही वाहरी दुनियाँ से सम्बन्धित ज्ञान के प्रधान आगम स्रोत थे, दर्शन-शास्त्र से अभिरुचि रखते रहे हो—ऐसी सम्भावना बहुत कम है। यह एक ऐसी धारणा है जो पूर्व और पश्चिम की एक भ्रामक तुलना से उत्पन्न हुई है। उदाहरण के लिए बौद्ध कथाओ में ऐसे वणिक् है जो आध्यात्मिक प्रश्नो पर विवाद करने की अपनी क्षमता के लिए प्रसिद्ध है।"

के शीर्ष विन्दु पर चल सकता है।"[1] यह अजेयता योग का परिणाम है[2]। श्री लो त्सू के ग्रन्थो में ऐसे व्यक्तियो की चर्चा है जो विना जले हुए आग में चलते है, आकाश में यात्रा करते है और जो मरते नही। ताम्रोवाद जादू के कारनामो में घुल-मिल गया और ताम्रो मत के पुरोहितो की जादू-टोने के कारण वहुत माँग बढी। वह इन कलाम्रो में सिद्धहस्त भी थे। आज भी ताम्रो-मत के पुरोहित अद्भुत काम करनेवाले माने जाते है, जिन्हे प्रेत-बाधावाले मकानो को मुक्त करने के लिए व्यक्तियो और व्यक्ति-समूहो पर आनेवाली प्रेतात्माम्रो को भगाने के लिए और रोग फैलानेवाली दूरात्माम्रो से गाँवो को मुक्त करने के लिए बुलाया जाता है।

श्री लू येन (जन्मकाल सन् ७५५ ई०) ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका विषय है 'जीवन की स्वर्ण-सुधा' (चिन तान चिम्राम्रो)। इस पुस्तक में उन प्रक्रियाम्रो का निर्देश किया गया है जिनके द्वारा हम मृत्यु पर विजय पा सकते है। कहा जाता है कि इस पुस्तक मे श्री ताम्रो ते चिंग के उपदेशो का विकास किया गया है और बौद्ध धर्म पर इसका बहुत प्रभाव पडा है। बौद्ध ग्रन्थो के उद्धरणो की इसमें बहुलता है। पदार्थो के वात्याचक्र में स्थिर-तत्त्व पर अपना ध्यान केन्द्रित रखनेवालो को इस पुस्तक मे अनन्त जीवन का विश्वास दिलाया गया है।

कहा गया है कि योग की प्रक्रिया मे आत्मा ज्ञान, प्रेम और भक्तिके

---

[1] Waley Three Ways of Thought in Ancient China (1939), पृष्ठ ७५।

[2] "अभ्यासी को जलती हुई आग में भी फेंक दिया जाय तो भी अपनी इस मुद्रा (आग्नेयी) से वह जीवित रहता है।"—घेरण्ड संहिता, ७३।

समन्वित तत्व की स्थिति को प्राप्त होती है। तब हम सर्वग्राही अहता से मुक्ति पाते हैं---उस अहता से जो हमें अपने में निमग्न और अपने वश में रखना चाहती है। इस अनुभव मे एक परम पूर्णता[१] की भावना रहती है, सामान्य भोग और कष्ट से बहुत ऊपर और परे रहनेवाला वह हर्ष---वह आनन्द---अनुभूत होता है जो सुख और दु ख से भिन्न है। यह अनुभूति शब्दो के माध्यम से व्यक्त नही की जा सकती। तर्क-सिद्ध या युक्तियुक्त वर्णन ताओ की इस गहन अनुभूति को व्यक्त करने में असमर्थ है। शिक्षक उपदेश देता है केवल सिद्धान्त में अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए, न कि व्यक्ति की आत्म-चेष्टा को कुचलने के लिए। प्रत्येक व्यक्ति को सत्य की खोज स्वय अपने आप करनी है। वह सत्य जब उसे प्राप्त हो जाता है तब वह अमर-जीवन हो जाता है।

"ताओ चिरन्तन नित्य है।
है प्राप्त जिसने कर लिया ताओ
भले ही देह उसकी नष्ट हो
पर नाश उसका है नहीं।"

निषेधरूप में आन्तरिक ताओ या अन्तर्धर्म का अर्थ है समस्त पदार्थ या पार्थिव बन्धनो से मुक्ति। तब यद्यपि हमें अनन्त-जीवन की प्राप्ति हो जाती है, फिर भी हम अपना व्यक्तित्व एक परिवर्तित स्वरूप में, बनाये रखते है। अपने अन्तर्धर्म---आन्तरिक ताओ की प्राप्ति कर लेने पर हम पार्थिव परिवर्तनो, जीवन और मृत्यु के प्रभावो से मुक्त हो जाते है। जो ताओ-धर्म की प्राप्ति कर लेता है वह फिर अपनी अहता में सीमित नही रहता वह अनुभव करता है कि समस्त सृष्टि के साथ वह

[१] Tao Te Ching, XVI.

एक है। सभी वस्तुएँ तब अपनी ही-सी मालूम होती है, सागर और पर्वत, वायु और प्रकाश सब अपने अगी मालूम होते है।

जिसे धर्मानुभूति हो चुकी है उसका कर्म अकर्म है, कामनाहीन, स्वार्थपूर्ण उद्देश्यो से मुक्त, उसके कर्मों की अवस्थिति उसमें नही बल्कि उनकी अपनी परिणति में ही है।[1] वह अनायास चलता है और काम करता है —

"वह क्रियाहीन बना सक्रिय, अकर्म मे ही
कर्म-रत वह गन्ध लेता गन्धहीन में।
लघु को महान् करने में क्षम 'ताओ' वह,
अल्प को असख्य करे पाप पुण्य पीन में॥
प्रतिफल मगल से अपकृति का देता वह,
भिडता कठोर से सरल तन छीन में।
स्वय बना है लघु फिर भी निवाहता है।
उनको, बने है जो महान् तन दीन में॥"[2]

"जिसने उसे प्राप्त किया, उसको
फिर मित्र या शत्रु बनाया न जा सके।
उसे लाभ या लोभ असम्भव है,
क्षति-घात उसे पहुँचाया न जा सके॥
उसका उत्कर्ष करे भला कौन?
विनीत बलात् बनाया न जा सके।

---

[1] भगवद्गीता से तुलना कीजिये —

कर्मण्यकर्म य पश्येद कर्मणि च कर्म य।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकर्मकृत॥"

[2] Tao Te Ching, भगवद्गीता, २,६५, के स्थितप्रज्ञ आदर्श का अनुरूप है।

वह है सर्वोपरि अन्य कोई
उसके समकक्ष गिनाया न जा सके।।"[1]

यह अकर्म सासारिक दृष्टि में ही अकर्म है, पर वास्तव में वह सर्वोत्तम कर्तृत्व है। हम अनार्यास, पर आत्म-प्रेरित रहते है। अपनी समस्त कामनाओ से मुक्त हो जाने पर अपनी समस्त वाह्य रूपता से निरावृत्त होकर हम अपने और अपने चतुर्दिक् वातारण के बीच एक समन्वय की स्थिति में पहुँच जाते हैं, और एक ऐसा आत्म-प्रेरित अनायास प्रवाह हमारे जीवन का हो जाता है जैसा ऋतुओ का प्रवाह है। ऐसा व्यक्ति एक दर्शकमात्र है। वह घटनाओ को अपनी गति से चलने देता है और जीवन की परिस्थितियो से अप्रभावित रहता है।

एक शान्तिवादी नैतिकता का उपदेश दिया गया है। धर्मानुकूलता को विभूति-सम्पन्नता माना गया है। विभूति या सद्गुण व्यक्ति के ताओ या धर्म का परिणाम है। विभूति सत् और असत्, भली और बुरी दोनो हो सकती है, ताओ विभूति की अपेक्षा कर्म अधिक है। हमारे कर्मों के परिणाम यही इसी जीवन मे प्रकट होते हैं, भविष्य जीवन में नही। किसी वस्तु की अन्तर्निहित शक्ति--उसकी भलाई या बुराई की सामर्थ्य को—ते कहते है। धीरे-धीरे ते का अर्थ विभूति या सदाचार हो गया। ससार का प्रत्येक जीव, मानव हो या पशु, एक विशेष प्रकार से व्यवहार करता है जो उसके लिए स्वाभाविक होता है, और जब तक हम उसके अनुकूल कार्य करते है तब तक हमारे कार्य ताओ-पथ--धर्म-पथ या विभूति-मार्ग-पर होते है। प्रत्येक की अपनी कार्य-पद्धति होती है, पुरुष हो या स्त्री, राजकुमार हो या किसान। प्रत्येक को अपने

[1] Tao Te Ching, LVI

स्वभाव का विकास करना चाहिए, भगवद्गीता के शब्दो में अपने स्वधर्म की उन्नति करनी चाहिए। यदि हम सब पर एक ही-सा मान-दण्ड लागू कर दें तो विश्रृखलता और अराजकता ही परिणाम होगा। "पुराने समय में जब एक समुद्री चिडिया लू प्रान्त की राजधानी के बाहर आ बैठी तो लू के शासक उसका स्वागत करने गये, मन्दिर में उन्होने उसे शराब दी, उसके मनोरजन के लिए सगीत का आयोजन किया और उसके भोजन के लिए एक बैल की बलि दी गई। लेकिन वह चिडिया आश्चर्यचकित थी और इतनी थकी थी कि न वह खा सकी, न पी सकी। तीन दिन में वह मर गई। यह तो चिडिया का उस तरह स्वागत करना था जिस प्रकार मनुष्य स्वय अपना स्वागत करता है न कि जिस प्रकार चिडिया चिडिया का स्वागत करती है। यदि उन्होने उसके साथ वैसा व्यवहार किया होता जैसा चिडिया चिडिया के साथ करती है तो उन्होने उसे घने जगल में बसेरा बना दिया होता, मैदानो में घूमने, नदियो या झीलो मे तैरने, मछलियाँ खाने और दूसरी चिडियो के साथ उडने तथा आराम मे बैठने की सुविधा दी होती। • जो जल मछली के लिए जीवन है, वही मनुष्य के लिए मृत्यु है।"[1] श्री चुआग त्सू सभी प्रकार के शासन और प्रकृति में किये जानेवाले हस्तक्षेप को बुरा मानते थे। हमें अपने विविध जीवन की रक्षा करनी चाहिए। यदि सभी जीव अपने ताओ—अपने धर्म—के अनुकूल रहें तो ससार में सघर्ष ही न हो। ससार में ऐसा कुछ नही है जो भला न हो, कोई भी ऐसा दृष्टि-कोण नहीं है जो ठीक न हो।[2] हमें प्रकृति के नियम अवश्य मानना चाहिए। विनम्रता और अप्रतिरोध ज्ञान और सुख के मार्ग है। यह सिद्धान्त

[1] Chuang Tzu, XVIII
[2] Ibid., Ch II

भगवान् बुद्ध की इन शिक्षाओं से भिन्न नहीं है—"बुराइयों से बचना, भलाई करना और अपने अन्तर्तम हृदय को शुद्ध करना।" अहंता-शून्य समर्पण ही विभूति है, समर्पण ही विजय है।"

"जो सर्वाधिक कोमल है मृदु है,
है समर्पणशील महा।
वही जीतता है उसको सर्वाधिक
जो अविनीत कठोर रहा॥
वह मुक्त-पदार्थ है, व्याप्त इसी से
वहाँ न जहाँ अवकाश रहा।
समझा उस कर्म का मूल्य यहाँ
जो अकर्म रहा, अनायास रहा॥

शब्द-हीन-उपदेश, कर्म-हीन कर्मण्यता।
इनका मूल्य अशेष, विरले ही समझें सुधी॥"[१]

"सन्त नहीं करता कुछ भी
पर सिद्धि सभी उसकी बनी चेरी।"[२]

श्री लाओ त्सू मानव-जीवन में धर्म की सक्रिय अभिव्यक्ति का वर्णन करते हैं "स्वामित्वहीन उत्पादन, अहंता-शून्य कर्म, अधिकार-शून्य उत्थान,"। कहा जाता है कि उन्होंने कहा था—"एक महान् देश का शासन ऐसे करो जैसे एक छोटी मछली पकाई जाती है।" उसके बारे में बहुत शोर-गुल मत करो। शासन करने में अति मत करो। "अपने लिए कुछ निर्माण मत करो, जो जैसा है उसे स्वस्थ रहने दो, जल की भाँति चलो, दर्पण की भाँति शान्त रहो, प्रति-

---

[१] Tao Te Ching, XLIII
[२] Ibid, XLVII तथा XLVIII और LXXXI भी देखिये।

ध्वनि की भाँति उत्तर दो, अनस्तित्व की भाँति शीघ्रता से विलीन हो जाओ और पवित्रता की भाँति शान्त रहो ससार के लिए एक पथ बन जाओ।"[1] मुक्तात्मा मानव इसी प्रकार काम करता है।

"इसलिए तो
सन्त सर्वदा
सर्वाधिक परिपूर्ण पन्थ से
जन-जन की सहाय करता है।"[2]

श्री चुआग त्सू एक उद्धरण में श्री लाओ त्सू का यह कथन लिखते हैं—"जो जानता है कि वह बलशाली है और फिर भी उसे दुर्बल बने रहने मे सन्तोष है वही मानव-जाति का अजेय है। वह जिसे अपनी निर्दोषिता का पूरा ज्ञान है पर फिर भी अपमान सहन करता है, वही जन नायक होगा। जब शेष अन्य सभी प्रथम स्थान पाने के लिए प्रयत्न कर रहे हो तब जो अन्तिम स्थान पाकर ही सन्तोष करता है उसे ही ससार की अवमानना स्वीकार करनेवाला कहा जाता है।"[3]

ताओ ते चिंग मे युद्धो की भर्त्सना की गई है। लाओ त्सू कहते हैं—"सभी कर्मा में सर्वाधिक ईर्ष्यापूर्ण और निन्द्य है युद्ध। जो लोग राजाओ को मत्रणा देते हैं उन्हें युद्ध की शरण लेने से बचना चाहिए, क्योंकि सभी युद्ध प्रतिशोध की प्रेरणा देते हैं। जहाँ से होकर सेना जाती है वहाँ वर्षो दैन्य, अकाल और लूट-खसोट का दौरा रहता है। जो

---

[1] Chuang Tzu, XXXIII
[2] Tao Te Ching, XXVII
[3] Liang Chi choo कृत 'Chinese Political Thought', E T (1930), पृष्ठ ८२।

अपनी विजय में उल्लास मनाता है वह अपने आपको एक हत्यारा सिद्ध करता है।"[१]

सामान्य मूल्यांकन

ताओवाद ने चीन को एक सर्वातिशायी रहस्यवाद दिया और इस प्रकार वाह्य-बन्धनो से मुक्ति पाने की चीनी जनता की गूढ कामना की पूर्ति का प्रयास किया। लेकिन उसमें अध्यात्म विद्या का विकास नही हुआ जिससे मनुष्य के बुद्धि-तत्त्व को तोप देने का प्रयत्न होता। परम तत्त्व और इस विश्व के बीच जो सम्बन्ध है उसकी यथातथ्य प्रकृति तथा दोनो के मध्यवर्ती शक्तियो की विवेचना का कोई व्यवस्थित विकास नही हुआ। धार्मिक पक्ष मे ताओवाद कोई सन्तोषप्रद व्यवस्था देने में असमर्थ रहा। बोद्ध धर्म के अनेक सिद्धान्तो और अनुष्ठानो को अपनाकर तथा श्री लाओ त्सू को वुद्ध के समकक्ष प्रतिष्ठितकर ताओवाद ने जनता की धार्मिक पिपासा को शान्त करने की कोशिश की। ताओवादी मठ-व्यवस्था और उसके अनुशासन-नियम बौद्ध-आदर्श पर बने हुए हैं।[२] बौद्ध सूत्रो के आदर्श पर धीरे-धीरे एक ताओ-शास्त्र की

---

[१] Tao Te Ching, XXX, XXXI, और LXIX

[२] "ताओवादियो ने मन्दिरो, पुरोहितो पुरोहितानियो और कर्मकाण्ड की सारी व्यवस्था बौध धर्म से ग्रहण की। उन्होने बौद्ध सूत्रो की अनुकृति में भक्ति-सूत्र बनाये और मृतको के प्रति प्रार्थनायें रची। उन्होने त्रिमूर्ति की धारणा भी अपना ली और श्री लाओ त्सू, पैन कू और विश्व के शासक की त्रिमूर्ति प्रतिष्ठित की और इससे भी आगे वढकर उन्होने मृत्यु के बाद भयानक यातनाओ और आतको से युक्त बौद्ध नरक-कल्पना को भी अपना लिया।"—Giles कृत Religions of Ancient China (1905), पृष्ठ ६३।

रचना हुई। बौद्ध धर्म से स्वर्गो और नरकों की कल्पना ग्रहण की गई, उन्हें चीनी नाम दिये गये और जाति के ऐतिहासिक वीरो को, जो देवता माने जाने लगे थे, उनका अधिपति बनाया गया। बौद्ध परम्परा का अनुकरण करते हुए पुरोहितो या मठाधीशो और पुरोहितानियो के सम्प्रदाय प्रतिष्ठित किये गये। तैंग काल में श्री लाओ त्सू को एक विशिष्ट सम्मान दिया गया और धीरे-धीरे उन्हे भगवान् बुद्ध के समकक्ष दैवी पद पर पहुचा दिया गया। 'शताब्दियो के दौरान में ताओवाद ने अपने आपको दृढता से प्रतिष्ठित कर लिया, बराबर बौद्ध धर्म से नये-नये तत्त्व ग्रहण करता रहा जब तक उसका विकास एक ऐसे राष्ट्रीय धर्म के रूप मे न हो गया जो अपने प्रतिपक्षी मत के साथ समान शक्ति और सामर्थ्य से उसके समानान्तर चल सके। और इसी रूप में आज वह चीन के इतिहास में जीवित है।"[1]

जब तत्रयान बौद्ध-धर्म ने ऐसी रहस्यवादी क्रियायें प्रचलित की जिनकी महत्ता व उपयोगिता सन्देहपूर्ण थी तब ताओवाद भी उसी मार्ग पर आगे बढा। श्री लाओ त्सू और श्री चुआग त्सू की पुस्तको का उपयोग ऐन्द्रजालिक या जादू-टोनेवाले सम्प्रदायो में आधिकारिक शास्त्र के रूप में होने लगा। ताओवाद के इस ऐन्द्रजालिक रूप ने ही उसे जनप्रिय बनाया। कहा जाता है कि इस मत मे दार्शनिक के उस पत्थर का रहस्य छिपा है जो अमरता प्रदान करता है। ताओवाद का यह रूप सभी प्रकार के वशीकरण, मोहन, मायाभिचार, जादू-टोना और प्रेत-बाधा आदि की क्रियाओ के अनुष्ठान से भरा है। अन्धविश्वास से इस प्रकार आवृत्त सम्प्रदाय को बुद्धिवादी चीन स्वीकार न कर सका।

---

[1] Wilhelm Chinese Civilization (1929), पृष्ठ २००।

पर ताओवाद की प्रधान दुर्बलता उसके व्यावहारिक पक्ष में थी। इसका व्यावहारिक अर्थ धीरे धीरे ससार के क्रिया-कलापो के प्रति एक आलस्यपूर्ण उपेक्षा हो गया। लोगो का सुधार करने, उन्हें शिक्षा देने का कोई प्रयत्न इसने नही किया। श्री मेन्शियस ताओवाद को सामाजिक क्षेत्र में अराजकता उत्पन्न करनेवाला मानते थे और उसे हेय दृष्टि से देखते थे क्योकि ताओवाद में प्रकृति में किसी प्रकार के भी हस्तक्षेप को स्वीकार नही किया गया और शासन व सरकार को उसमें अनावश्यक बताया गया है। ताओवाद में यह सिद्ध करने की प्रवृत्ति है कि मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्थिति में स्वार्थपरता से मुक्त है और यह कि बुद्धि और इच्छा उसकी 'प्रकृति' के अग नही। मनुष्य यदि स्वार्थी और स्वामित्व की भावना से पूर्ण है तो इसके कारण कुछ और है। पहला कारण तो है प्रकृति में पदार्थों का दीपन व उत्तेजन। "रगो की अधिकता आँखो को अन्धा बना देती है, शोर की अधिकता कानो को बरबाद कर देती है, व्यञ्जन की अधिकता स्वाद को मूर्छित कर देती है," और अपनी मानसिक शान्ति सुरक्षित रखने का यही एक उपाय है कि प्रलोभनकारी पदार्थों से मनुष्य व्यामूढ न हो। गडबडी का दूसरा कारण है सामाजिक और राजनीतिक हस्तक्षेप--"जितने ही अधिक नियत्रण व निषेध बढेंगे उतना ही अधिक लोग गत-विभव होते जायेंगे। जितने ही अधिक शास्त्रार्थ बढेंगे उतना ही अधिक राज्य मे क्षोभ और अव्यवस्था फैलेगी। जितने ही अधिक विधान और आदेश प्रचलित होगे उतने ही अधिक चोर और डाकू बढेंगे।" श्री चुआग त्सू हमें प्रकृति की गोद मे वापस जाने की सलाह देते है। "जब सन्तपन छोड दिया जायगा और विद्वान् बहिष्कृत हो जायेंगे तब चोरी लूट बन्द हो जायगी, जब कुलटायें निकाल बाहर की जायेंगी और हीरे जवाहरात

नष्ट कर दिये जायँगे तब चोरी और अनाचार नहीं होगा।"[1]
कन्फ्यूशियसवादी तो मनुष्य में तर्क और विवेक पर बहुत अधिक जोर देते है, पर ताओवादी उससे घृणा करते है। ताओवादी हमें धरती के नजदीक रहने का उपदेश देते हैं और प्रकृति को माया या जादू का मर्म समझने—उसका रस लेने—की सलाह देते हैं और वर्तमान पीढी के बहुत से 'सभ्य' लोग, जो सेल्युलॉयड और ककरीट के बीच रहते हैं वे ताओवाद की इस आद्ययुगीनता की ओर बहुत आकर्षित होते है। श्री कन्फ्यूशियस के सिद्धान्त हैं भूतानुकम्पा, पवित्रता या सदाचार, शालीनता और शील, ज्ञान और निष्ठा, ताओवाद में इसके विरुद्ध हृदय, प्रकृति, सहज-प्रेरणा, अकर्मण्यता और मूर्छा को माना गया है जो बौद्ध धर्म के चिन्तन और आयास के आदर्शों से बिलकुल भिन्न है। भारत के बौद्ध शासक सम्राट् अशोक (तीसरी शताब्दी ई० पू०) ने पत्थरो और स्तूपो पर वे आदेश खुदवाये जिनमें मनुष्य को निरन्तर आध्यात्मिक आयास के लिए प्रेरित किया गया है, न कि ताओवाद की तरह आध्यात्मिक प्रमाद या शिथिलता के लिए। उन्होंने कहा था—'आपका समस्त आनन्द उद्यम में हो। छोटे-बडे सभी उद्यम करे।" बौद्ध आदर्श अतन्द्र उद्यम का आदर्श है। एक बार जब भगवान् बुद्ध एक सम्पन्न ब्राह्मण के पास भिक्षा के लिए गये तो ब्राह्मण ने कहा—"मैं खेत जोतकर, धान्य उत्पन्नकर भोजन करता हूँ। इसके विरुद्ध आप बिना जोते—बोये ही भोजन करना चाहते हैं।" इस झिडकी का उत्तर भगवान् बुद्ध ने यह कहकर दिया कि वे आत्मा के संस्कार का इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण काम करने में व्यस्त है। "श्रद्धा बीज है,

---

[1] श्री Liang Chi-chao कृत Chinese Political Thought, E T (1930) देखिये पृष्ठ ७८।

तपस्या जल-वृष्टि है, बुद्धि जुआ और हल है, विनम्रता हल का दण्ड है, मस्तिष्क ग्रन्थि है और विवेकशीलता हल का फल और अकुश है। श्रम मेरा वृषभ है जो बिना मुडे हुए मुझे उस स्थान को ले जा रहा है जहाँ पहुँच जाने पर मनुष्य को कोई क्लेश नही रहता—इस प्रकार यह हल जोता जाता है, अमरता इसका फल है।"

ताओवाद ने परम्परा की महत्ता को अस्वीकार कर दिया। श्री लाओ त्सू पितृ-भक्ति के प्रति उपेक्षा का भाव रखते थे, क्योकि ताओवाद में सभी पूर्वज समान है। ताओवाद की भूल यह है कि वह व्यक्ति के सामाजिक पक्ष को स्वाभाविक नही मानता। और इसके अतिरिक्त उसने एक प्रकार के भाग्यवाद या दैवायत्तवाद को प्रोत्साहन दिया। सासारिक मामलो में ताओवादी प्रकृति के सार्वभौम विधानो को स्वीकार करते है। प्रकृति के निर्माण या विनाश करने के अधिकार पर शका या आपत्ति नही की जा सकती। यदि हम प्रकृति की गति में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करें तो हमें अपनी विवशता का भान होगा। आत्मा की शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रकृति के नियमो को सहर्ष स्वीकार करते हुए उनके अनुकूल रहे और केवल विनत-दैवाधीनता या अनिच्छित-स्वीकृति मात्र का भाव न रखें। जब श्री चुआग त्सू की पत्नी मर गई तब तार्किक हुयी त्सू उनके घर विषाद में समवेदना प्रगट करने आये। पर आश्चर्य के साथ उन्होने देखा कि उनकी जाँघो पर एक उलटा हुआ सुरापात्र रखा हुआ है, वे ढोल की तरह उसे बजा रहे है और गीत गा रहे है। श्री हुयी त्सू ने कहा—"आखिर कुछ भी हो, आपकी पत्नी आपके साथ रही, आपके बच्चो को पाला-पोसा और आपके साथ ही वह बुड्ढी हो गई। आप उनके मरने पर शोक न प्रगट करे यही काफी बुरी बात है, लेकिन अपने मित्रो से इस प्रकार ढोल

पीटते और गीत गाते हुए मिलना—यह तो सचमुच बहुत आगे बढ जाना है।" "आप मुझे ग़लत समझ रहे है।"—श्री चुआग त्सू ने कहा, "जब मेरी पत्नी मरी तब मैं बहुत दु खी-निराश हो गया, जैसा कि कोई दूसरा व्यक्ति हो जाता। लेकिन शीघ्र ही जो कुछ हो गया था उस पर मैंने चिन्तन किया और अपने आपको समझाया कि आखिर मृत्यु के रूप में हमारे ऊपर कोई नया दुर्भाग्य तो नही टूटता। 'अगर कोई थक जाता है और जाकर आराम से लेट रहता है तो हम तारस्वर से चिल्लाते-रोते उसका पीछा तो नही करते। मेरी पत्नी, जिसे मैंने खो दिया है, उस महान् अन्तर आवास में थोडी देर के लिए शयन करने को लेट गई। अब रो चिल्लाकर उसकी शन्ति को भग करना तो यही सिद्ध करेगा कि मुझे प्रकृति के सार्वभौम परम विधान का कुछ भी बोध नही है।"[1]

श्री लाओ त्सू की दृष्टि में सामाजिक बुराइयाँ केवल सामाजिक दुराचार ही नही है, वे आत्मिक पाप भी है। उनसे मुक्ति पाने का मार्ग है तार्किकता के स्तर मे ऊपर उठकर आध्यात्मिक बनना, लेकिन दुर्भाग्य की बात तो यह है कि ताओवाद में मानव-विधानो को अधो-मानव-विधानो—भौतिक और प्राणि-शास्त्रीय या शरीरिक-विधानो—के अनुरूप बनाने की कोशिश की गई है।

ताओवाद का विकास विभिन्न रूपो में हुआ। श्री मेन्शियस ने कई एक विकास-मार्गो की चर्चा की है। श्री याग चू और श्री मो-चाई पूर्ण व्यक्तिवादी बन गये और उन्होंने यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि

---

[1] Chuang Tzu, XVIII Waley का E.T. 'The Way and Its Power', पृष्ठ ५३, ५४ भी देखिए।

प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए है। "भले ही एक अकेला बाल उखाड देने से वह ससार का भला करपाये, पर उसे वह नही उखाडना चाहिए।" कुछ लोगो ने तपश्चर्या को स्वीकार कर लिया और वे पारिवारिक और नागरिक कर्तव्यो से अलग हो गये। श्री सूंसिग ने अराजकतावाद का विश्लेषण किया, समर्थन किया और वे सरकार की आवश्यकता स्वीकार नही करते। विधानवादी भी, जिन्हें जीवन में वैधानिक हस्तक्षेप पर विश्वास हैं, ताओवाद का सहारा लेते है और अपने मत--कि ससार जड अगतिशील है--की पुष्टि करते है। श्री लाओ त्सू सामाजिक और राजनीतिक जीवन को एक मिथ्या विकास मानते है और वे मानव-जाति को इस परिवर्तनशीलता के ससार से आध्यात्मिक वास्तविकता के ससार में ले जाने की कोशिश करते है। श्री लाओ त्सू के सिद्धान्त की यह परलोक-भावना श्री कन्फयूशियस की उस परम्परा के विरुद्ध है जो मनुष्य के सामाजिक जीवन का परिष्कार करती है और उसे युग की वदलती हुई अपेक्षाओ के अनुकूल बनाती है। निर्जीवता या जडता साधु-पवित्रता नही है। यदि हम उन मानसिक परिस्थितियो और पार्थिव स्वरूपो की चिन्ता नही करते जिनमें आध्यात्मिक उद्देश्य को अपनी अभिव्यक्ति मिलती है तो हम अपनी विवशता में और गहरे गिर जायँगे और यह घोपित करेंगे कि जीवन के यथार्थ तत्त्वो और शीघ्रता से परिवर्तित होनेवाले वातावरण की चोटो को सहने-सुलझाने में हम असमर्थ है। ताओवादी आध्यात्म उपनिषदो की विचार-धारा के निकट है और ताओवाद का अनुशासन यौगिक प्रक्रिया से मिलता जुलता है। यदि कन्फयूशियस की आचार-नीति हमें मिलकर अविरोध सुव्यवस्थित जीवन विताना सिखाती है तो ताओवादी सर्वातिशायी रहस्यवाद हमें समाज से बाहर निकल आना और ताओ की अनुभूति

सिखाता है। हमें एक ऐसी विचार-पद्धति और एक ऐसे विश्वास की आवश्यकता है जिसमें इन दोनो धर्मों के स्वस्थ तत्त्वो का समन्वय हो।

———

६

गौतम बुद्ध और उनके उपदेश

गौतम बुद्ध [1]

गौतम बुद्ध (५६३—४८३ ई० पूर्व) इतिहास के उन सर्वाधिक जागरूक, ओजस्वी और प्रसन्न व्यक्तित्वो में से है जिनके सम्बन्ध में हमें इतिहास कुछ बताता है। उनके जीवन का रूक्ष कठोर तापस-सौन्दर्य, उनके चरित्र की उदारता और मृदुता, उनके उपदेशो की तात्विक सत्यता और अविश्वास तथा अन्धविश्वास, असयम और तपोपीडन के बीच का जो मध्यम-मार्ग उन्होने सिखाया वह सब आधुनिक युग के मन मस्तिष्क को बहुत प्रभावित करता है।

उनका जन्म स० ५६३ ई० पूर्व गोतम परिवार में हुआ था। उनका व्यक्तिगत नाम सिद्धार्थ था और वह शाक्य राजवश के उत्तराधिकारी थे। कहा जाता है कि भावी बुद्ध रानी महामाया के गर्भ में एक स्वप्न में प्रविष्ट हुए, उस स्वप्न में सरक्षक देवदूत रानी की सेवा कर रहे थे। जब रानी ने अपना स्वप्न राजा को सुनाया तो राजा ने प्ररयात ब्राह्मणो से प्रामर्श किया और स्वप्न का फल पूछा। "चिन्ता न कीजिए महाराज", ब्राह्मणो ने कहा, 'आप को एक पुत्र होगा।

[1] देखिये लेखक की रचना 'Gautama the Buddha', Hind Kitabs 1946

और यदि उसने गृहस्थ जीवन स्वीकार किया तो, वह सार्वभौम सम्राट् होगा, किन्तु यदि उसने गृहस्थ जीवन छोड दिया और ससार से विरक्त हो गया तो वह बुद्ध हो जायगा और इस ससार के पाप और अज्ञान को उच्छिन्न कर देगा।"

सिद्धार्थ का लालन-पालन कपिलवस्तु में हुआ, समयानुसार उनका विवाह हो गया और उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम राहुल था और जो बाद मे उनका शिष्य हो गया। सिद्धार्थ अपने युग की अशान्ति से विचलित थे और सासारिक पदार्थो और सुखो के अनिश्चय और उनकी अनित्यता का उन पर बहुत बडा प्रभाव पडा। मनुष्य का सुख वैसे ही अस्थायी और चचल है जैसे छाया। उन्होन जीवन को प्रत्यक्ष करने और इन सब दृश्यो के सत्य को जानने का आग्रहपूण निश्चय किया। सत्य की खोज में उन्होने अपना घर छोड दिया और वर्षों के सघर्ष के बाद—जिस सघर्ष में उन्होने सत्य-प्राप्ति की विविध पद्धतियो की परीक्षा की—वे बोधि वृक्ष के नीचे इस दृढ सकल्प के साथ बैठ गये कि जब तक उन्हें सत्य की प्राप्ति न हो जायेगी वे उस आसन से न उठेंगे। "मेरा शरीर सूख जाय, मेरी त्वचा, अस्थियाँ और मास नष्ट हो जायँ, मै इस आसन से तब तक न हिलूँगा जब तक मुझे ज्ञान-ज्योति की प्राप्ति न हो जायगी।"[1] उन्हे सत्य की प्राप्ति हुई और उन्होने बहुसख्यक जन-समूहो को ज्ञानोपदेश दिया। उन्होने सत्यान्वेषियो की एक विहार-परम्परा प्रतिष्ठित की और

---

[1] इहासने सुष्यतु मे शरीरम्
त्वगस्थिमासम् प्रलयम् चयातु
अप्राप्य बोधिम् बहुकल्प दुलभम्
नैवासनात् कायम् एतत् चलिष्यति ॥—ललितविस्तार।

अनेक शिष्य आकर्षित कर लिए। अपना सम्प्रदाय स्थापित करने के शीघ्र ही वाद उन्होने छोटे-छोटे गुटो में अपने अनुयायियो को धर्म-प्रचारार्थ दूर-दूर भेजा। उनका आदेश था, "आगे वढो, वन्धुओ, इस धर्मोद्देश्य के साथ जो बहुतो के हित के लिए--बहुजनहिताय—है, वहुतो के सुख के लिए--वहुजन सुखाय—है, ससार पर दयावृष्टि के लिए और देवो तथा मानवो के लाभ और कल्याण और सुख के लिए आगे वढो। एक-एक अकेले मत जाओ, जोडो में जाओ। उस सत्य की शिक्षा दो जिसका मूल मनोज्ञ है, जिसका विकास कमनीय है और जिसकी सिद्धि मनोहर है। अपने शब्दो में और अपनी भावना में सम्पूर्ण पूर्णता और पवित्रता के साथ महत्तर जीवन की उद्‌घोषणा करो। ऐसे जीव है जिनकी आखो में धूल छाई है जो सत्य न जान पाने के कारण नष्ट हो रहे है।"[1] वह ८० वर्ष की अवस्था में दिवगत हुए।

वुद्ध अपने आप को एक धर्मोपदेशक मानते थे। अपने प्रवोध या ज्ञानलाभ को वह सार्वभौम-विधान का एक उदाहरण मानते थे जिसकी पुष्टि व्यक्तिगत अनुभव में होती है। अन्तर्ज्ञान का आधार है जीवन की पवित्रता। आत्मिक मुक्ति का मार्ग है नैतिक अनुशासन। लोग उनके सम्बन्ध में कहने लगे "वह ज्ञान जानते है, दर्शन देखते है, वह विश्व-चक्षु है, वह मूर्तज्ञान है ''वह मूर्त सत्य है ' वही हमें उपदेश देते ह, वही आवृत सत्य को अनावृत करते है, वही कल्याण की वर्षा करते है और हमें अमरत्व देते है, वह धर्म देव है।"[2] वह विश्व के साथ नैतिक सवृति या अविरोध का उपदेश देते है और परिवर्तन के

---

[1] दीर्घनिकाय, १४, २२। महावग्ग, १, १२ भी देखें।
[2] सयुक्तनिकाय, १४, ९४।

प्रवाह से बचकर सत्ता की शान्ति और आनन्द-स्थिति तक पहुँचने का मार्ग दिखाते हैं। उनकी मृत्यु के बाद उनके उपदेशो को पालि-सहिता मे सग्रहीत किया गया। उनके धर्म प्रचार का द्विविध उद्देश्य उनके अनेक वचनो से स्पष्ट होता है। "मै केवल एक ही बात की शिक्षा देता हूँ, दु ख और दु ख से मुक्ति, असत्--बुराई से दूर हटना और सत—भलाई को ग्रहण करना, अन्तर्हृदय को शुद्ध करना।" उनका उद्देश्य और उपदेश था अपने शिष्यो को परम शान्ति और निर्वाण की अनुभूति सिद्ध कराना, इस सिद्ध का साधन या नैतिक जीवन का अभ्यास जिसका प्रारम्भ सत् विचारो से होता है और जिसकी परिणति या पूर्ति सर्वातिशायी अथवा परम आनन्द और मुक्ति मे होती है।

उनके उपदेश

उपनिषदो का आदर्शवाद उस समय देश के वायुमण्डल में था; परम सत्ता, अवर्णनीय परम-शुद्ध ब्रह्म-आत्मा जिसके वर्णन में शब्द असफल रहते है, व्यक्ति उस परम-सत्ता की एक अभिव्यक्ति, नैतिक अनुशासन इस रहस्यवादी अनुभूति का एक साधन, कर्म और ससार आदि-आदि से सम्बन्धित उपनिषदो के सिद्धान्त वातावरण में छाये थे और बुद्ध ने इन्ही का उपयोग एक भिन्न प्रकार से किया। उनका दृष्टिकोण निर्विकल्प बुद्धिवादी दृष्टिकोण था। हमे तथ्यो को प्रत्यक्ष करके अपने सिद्धान्त बनाने चाहिए। आत्मा तक उठने के लिए बुद्धि की अस्वीकृति या उपेक्षा आवश्यक नही है। तर्क या बुद्धि को अस्वीकार या उपेक्षित करने की आद्ययुगीन प्रवृति बुद्ध की भावना से बहुत दूर—उसके लिए विदेशी है। उनके कोई आवृत रहस्य नही थे। अपने शिष्यो

से वह खुलकर बात करते थे, उनसे कुछ भी छिपाते न थे।[1] बुद्ध की अध्यात्म-पद्धति मे ज्ञानोदय और बौद्धिक प्रक्रिया का समन्वयन किया गया है। बोधि या ज्ञानोदय में ससार का नियमन करने वाले कार्य-कारण-विधान के समझ लेने से सहायता मिलती है। बुद्ध एक ऐसा दृष्टिकोण अपनाते है जो चिन्तन-मूलक होने की अपेक्षा वैज्ञानिक अधिक है और अन्तिम या परम-तत्यो के सम्बन्ध में वे कोई दृढ सिद्धान्त नही निश्चित करते। उनकी आध्यात्मिक प्रतिज्ञायें आध्यात्मिक चिन्तनायें या परिकल्पनायें नही है, बल्कि सूक्ष्म मनोविज्ञान की अवधारणाओ पर आधारित है। उनके चार सत्य चेतना के अव्यवहित-उपन्यास या प्रत्यक्ष प्राप्य-तत्वो पर आधारित है।

समस्त परिमित पदार्थों की अनित्यता हमारे अनुभव का विषय है। जो कुछ भी अनित्य है उसमे कोई वास्तविकता या आत्म-तत्व नही है। निरन्तर परिवर्तित होनेवाले इस जगत या ससार में कुछ भी नित्य नही है। यद्यपि यह स्वय अनादि और अनन्त है फिर भी इससे छुटकारा पाया जा सकता है। यह अनित्यता धर्माकाक्षा के लिए प्रेरक शक्ति है। यदि हमारा जीवन अशान्त न होकर शान्त होता तो धर्म का कोई विचार ही न आता। "यदि तीन चीजो का अस्तित्व न होता तो ससार में बुद्ध का आविर्भाव न होता और न उनके सिद्धान्त और विधान प्रकाश में आते।" "वे तीन चीजें क्या है?" "जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु।" अपनी तात्कालिक अनुभूति से परे गये बिना और एक व्यक्ति-रूप ईश्वर का सिद्धान्त घोषित किये बिना भी मनुष्य यह स्वीकार कर सकता है कि एक चिरन्तन सत्ता है जो हमसे भिन्न है और जो

---

[1] Cp Analects VII 23

सदाचार और धर्म की प्रेरणा देती है और जो उपनिषदों के ब्रह्म का ही दूसरा नाम है। श्री लाओत्सू की भांति बुद्ध ने भी बाह्य-जीवन या दृश्य जीवन और अन्तर्जीवन का विभेद और विरोध बनाया है। जब हम दृश्य-जीवन के भीतर प्रवेश करते है और अन्तर्जीवन की गहराइयों को छू पाते हैं तब उस महान् सत्ता के साथ हमारी एकता स्थापित होती है। इस विश्व-सत्ता की चेतना या अनुभूति से हमारी प्रकृति का रूपान्तर हो जाता है। यह रूपान्तर एक नवीन जीवन है, एक नवीन व्यक्ति का निर्माण है। धर्म की वास्तविकता न तो ब्रह्म-विद्या का कोई दृढ सिद्धान्त है और न अध्यात्म-विद्या की कोई परिकल्पना। यह तो चेतना के तात्कालिक या प्रत्यक्ष-तात्विक सिद्धान्त रूप में सोचा गया है। "जो चिरन्तन नहीं है वह इस योग्य नहीं कि उस पर सन्तोष की दृष्टि डाली जाय।" हमारा लक्ष्य वह होना चाहिए जो स्थिर है, नित्य है, जिसमें आत्म तत्व है--वह अपरिमेय निर्वाण जो सभी प्रकार के विकारों से मुक्त है। यदि बुद्ध व्यक्ति के आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करते तो इसका कारण यह है कि उन्हें इस बात का भय है कि हम अपनी वर्तमान स्थिति और सत्ता में ही अपने को सत्य तत्व मानकर एक मिथ्या-सुरक्षा की भावना में असावधान हो जायगे। हमारे सभी विचार, इच्छायें, प्रवृत्तियाँ, इन्द्रियाँ और उनके विषय--सभी परिवर्तनशील अनित्य है। हम उनसे बचना ही चाहिए। जो सत्य है वह चिरन्तन है, नित्य है, और यह सब अनित्य है। यह सब आत्म-तत्व-शून्य है, अवास्तविक है। बुद्ध की नैतिक प्रवृत्ति उन्हें यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित करने को प्रेरित करती है कि व्यक्तियों का कोई परम आत्म-निर्धारित अस्तित्व नहीं है। यदि उनमें वास्तविकता हो तो फिर उनका कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। यदि नैतिक उपदेशों को प्रभावपूर्ण

होना है तो व्यक्ति को परिवर्तन-क्षम होना चाहिए। नित्य-तत्व, सत्य-आत्म की प्राप्ति के लिए हमें अपनी सकल्प-शक्ति का प्रयोग करना होगा। हमारे मस्तिष्क में विवेक-बुद्धि होनी चाहिए और हमारा सकल्प अविश्रान्त रहना चाहिए। यदि हमारा ससार असन्तोप-जनक है तो इसलिए कि वह क्षणभगुर है और अज्ञानी है। संसार का क्लेश नष्ट किया जा सकता है। हम दु खी हैं अपनी मूढ इच्छाओ के कारण, यदि हम उनसे मुक्ति पा जायें और अपना नव-निर्माण कर लें तो हम प्रसन्न हो जायगे। सुखी जीवन अचानक अनायास मिलने वाली चीज नही है, बल्कि ऐसी चीज है जिसका सत् विचारो, सत्-शब्दो और सत्-कर्मो-द्वारा निर्माण किया जाता है। हम अपनी प्रकृति का नव-निर्माण अभ्यास और सस्कार द्वा ा कर सकते हैं, अपने हृदय को पवित्र बनाकर और नैतिक विधान का अनुगमन करके। मनुष्य की वास्तविक प्रकृति विचार या भाव उतना नही है जितना कि सकल्प, और यदि हम ससार के दु ख से बचना चाहते है तो हमें इस सकल्प से ही काम लेना होगा। बुद्ध अपने अनुयायियो को प्रोत्साहित करते है कि वे अपने भीतर "पुरुषो के योग्य शक्ति, ओज और उद्यम"[१] उत्पन्न करें। सकल्प-शक्ति के प्रयोग का अर्थ है एकाग्रता या ध्यान का केन्द्रीकरण। केवल सत्काक्षायें, भूत-दयावादी आशाये ही पर्याप्त नहीं है। मनुष्य के शुद्ध विचारो और वास्तविक मनोविकारो के बीच की खाई केवल मस्तिष्क और हृदय की शुद्धि या पवित्रता मे ही पाटी जा सकती है। बुद्ध आत्म-निर्भरता को प्रोत्साहन देते है और आत्म-सयम की शिक्षा। ईश्वरीय इच्छा के प्रति समर्पण की विनय-भावना तो बाद में दिखाई देती है,

---

[१] पुरिसत्त्थमेण, पुरिसविरियेण, पराक्कमेण—मज्झिम निकाय।

ऐतिहासिक बुद्ध के उपदेशो में वह हमे नही मिलती। उनकी दृष्टि में तो, "आत्मा ही आत्मा का अधिपति है। दूसरा और कौन अधिपति हो सकता है?" अपने जीवन के अन्तिम क्षण में बुद्ध ने अपने अनुयायियो को "आत्म-शरण" होने का उपदेश दिया।

यद्यपि बुद्ध ने यह सिद्ध किया है कि अज्ञान ही ससार-शृखला की प्रधान कडी है पर इससे मुक्ति चार सत्यो के सैद्धान्तिक-ज्ञान से नही मिल सकती, बल्कि केवल उन पर आचरण करने से ही मिल सकती है। अज्ञान का पराभव या नाश सकल्प शक्ति के गहन अभ्यास का अनुगामी है। बुद्ध का सिद्धान्त एक जीवन-मार्ग है। जो भी इस मार्ग पर चलता है और लक्ष्य तक पहुँच जाता है वही बुद्ध है, तथागत है। हमारे लिए आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम निर्वाण की प्राप्ति मे दत्तचित हो जायँ। चिन्तन की कठिनाइयाँ तब तक हल नही होगी जब तक हम परम-ज्ञान की प्राप्ति न कर लेंगे। और जो कोई भी बीच में हो उनको हल करने का प्रयत्न करेगा वह तात्विक एकाग्रता के मार्ग से अलग पड जायेगा। बहुत से शिष्यो ने इस बात की शिकायत की कि उन्हे उनके इन प्रश्नो का कोई उत्तर नही मिला कि यह ससार साद्यन्त है या अनाद्यन्त, नित्य है या अनित्य और मृत्यु के बाद साधु का अस्तित्व रहता है या नही। बुद्ध कहते है कि उन्होने शिष्यो से इस रहस्य का उद्घाटन नही किया "क्योकि यह मोहनाश या ज्ञान-प्राप्ति में सहायक नही है, न चेतना के विधि तत्व से उसका कोई सम्बन्ध है, न वह हमारी इच्छाओ की निवृत्ति, विकारो के नाश, उपशम, शान्ति, उच्च-भावना और परम ज्ञान में और न निर्वाण में ही सहायक है।"[1]

---

[1] मज्झिमनिकाय, सूत्र ६३।

भगवान बुद्ध अपने आप को उस रोग के चिकित्सक मानते थे जिससे मानव-प्रकृति ग्रस्त है। जो कोई बुद्ध के उपदेशो पर व्यवहार करने से तब तक इन्कार करता है जब तक यह आध्यात्मिक समस्यायें सुलझ न जाय उसकी तुलना एक ऐसे व्यक्ति से की जा सकती है जो विषाक्त तीर से घायल हो चुका है पर तब तक चिकित्सक की सहायता लेने को तैयार नही जब तक उसे इस बात का पता चल न जाय कि उसे तीर मारने वाला व्यक्ति हल्के या गहरे रग का था और ब्राह्मण था या क्षत्री। इन प्रश्नो के जो भी उत्तर बुद्ध दे सकते है वे केवल उनके विचार या दृष्किोण होगे न कि निश्चित मत और उनसे मोहनाश या ज्ञान-प्राप्ति में सहायता नही मिलती। बुद्ध अपने अनुयायियो को किम्वदन्तियो, परम्पराओ या स्वय अपनी ही आधिकारिक वाणी से आध्यात्मिक सत्य स्वीकार करने की अनुमति नही देते थे। श्री कन्फ्यूशियस की भाँति बुद्ध भी भविष्य को कल्पनाओ मे नही पडते थे।[१] कन्फ्यूशियस की भाँति वह सच्चरित्रता के निर्माण पर जोर देते है जिसका फल होता है सत् कार्य। वे मध्यम-मार्ग के सिद्धान्त की घोषणा करते है। वे चाहते है कि हम अपने लिए आत्मासक्ति और आत्म-पीडन के अतिवादो के बीच से अपना मार्ग बनायें। उन्होने किसी तापस-विधान या अस्वाभाविक नीति-शास्त्र की निर्धारणा नही की। उरुवेला में उन्होने कठोर तपस्या की थी और उस समस्त शरीर यातना को उन्होने असन्तोषजनक पाया था। आत्म-पीडन से ज्ञान-प्राप्ति नही होती। उन्होने चिन्तन की स्वाभाविक पद्धति स्वीकार की। अपने शिष्यो को अपना अन्तिम उपदेश देते हुए उन्होने चिन्तन की महत्ता

---

[१] Analects XI II

पर जोर दिया था "ऋजु या सत्य-आचरण-समन्वित चिन्तन का फल महान् है। चिन्तन से अनुमोदित ज्ञान का लाभ महान् है। जिस मस्तिष्क में ऐसा ज्ञान होता है वह समस्त प्रमादो से, इन्द्रियो की काक्षाओ से, जीवन के प्यार से, मोह-जालो से और अज्ञान से मुक्ति पा जाता है।" बुद्ध के समय में सभी विचारक यह स्वीकार करते थे कि जो आत्मिक-जीवन बिताना चाहते हो उन्हें सासारिक बन्धनो से मुक्ति पानी चाहिए। किन्तु बौद्ध महन्तो को बौद्धिक कार्यों और सामाजिक सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग करना होता था। भगवान बुद्ध ने अध्यात्म-शास्त्र और यज्ञादिक से बिलकुल मुक्त अपना मार्ग बनाया और यह उपदेश दिया कि धार्मिक जीवन का अर्थ है अष्ट-मुखी नैतिकता का पालन। उनके अनुयायी को अपना जीवन एक नैतिक-विधान के अनुकूल बनाना पडता है। यद्यपि वे देव-पूजा का निषेध नही करते पर उसकी ओर से वे उदासीन और निरपेक्ष अवश्य है। उनका यह दृष्टिकोण श्री कन्फ्यूशियस के दृष्टिकोण से मिलता जुलता है। श्री कन्फ्यूशियस भी एक नैतिक-विधान का पालन करने का आदेश देते है। यदि उनके साथ-साथ आप देव-पूजा भी करते है तो इससे कन्फ्यूशियस रुष्ट नही होते। बुद्ध ने सस्कार और पौरोहित्य-विधानो की उपेक्षा की थी। उनका उपयोग उसी हद तक है जिस हद तक वे मनुष्य के मन मे अच्छी आदतो का अभ्यास डालते है। उनके उपदेश तात्विक रूप में व्यावहारिक है। "जैसे महान् सागर का स्वाद केवल एक है--खारा, उसी प्रकार सिद्धान्त और अनुशासन का स्वाद या फल केवल एक है--मुक्ति या निर्वाण।"[१] दु खो मे बचने के लिए

---

[१] चुलवग्ग, ६, १, ४।

हमे पवित्र जीवन विताना चाहिए। अष्टाग-मार्ग ही आनन्द का मार्ग है। वुद्ध ने मैत्री का आदेश दिया है "सत् कार्य के सभी अवसर प्रेम के सोलहवें अश के वरावर भी नही है, प्रेम हृदय को मुक्त कर देता है। हृदय को मुक्ति देने वाले प्रेम में वे सव सत्-कार्य समाये रहते है, प्रेम प्रकाशमान है, वह ज्योति और दीप्ति देता है।"[१] "जैसे एक माँ अपने जीवन का खतरा उठाकर भी अपने इकलौते वच्चे की रक्षा करती है, इसी प्रकार का प्रेम प्रत्येक व्यक्ति को प्राणिमात्र के प्रति उत्पन्न करना चाहिए।"[२]

वुद्ध ने पितृ-भक्ति पर उतना ही जोर दिया है जितना कन्फ्यूशियस ने। उनका कहना है कि दो सत्तायें ऐसी होती है—पिता और माता ——जिनसे कभी भी पूर्ण रूप से उऋण नही हुआ जा सकता।[३] "यदि कोई व्यक्ति अपने माता-पिता को १०० वर्षों तक अपने कन्धे पर विठा कर घुमा सके या ससार की सारी सम्पत्ति और सारा राज्य उन्हे दे सके तो भी वह अपना ऋण अदा नही कर सकेगा।" महावग्ग में हमें एक ऐसे स्थविर का वर्णन मिलता है जिसने सघ की सारी सम्पत्ति अपने माता-पिता को दे दी, लेकिन इसके लिए उसे कोई दोष नही लगाया गया[४]। सिगालोवाद सूत्त[५] में वताया गया है कि भिक्षा मागते हुए एक दिन प्रात काल भगवान वुद्ध गृहस्थ सिगाल के सम्मुख आ उपस्थित हुए। सिगाल उस समय हाथ जोडे चारो दिशाओ तथा ऊर्ध्व और अधो-दिशा को नमस्कार कर रहा था। उसका उद्देश्य इन छहो दिशाओ मे

---

१ इतिवक्त, ३, ७।
२ सूत्तनिपात १, ८।
३ अगुत्तर निकाय, ५, २, ४।
४ VIII 22
५ दीग्घनिकाय, ३१।

आने वाले अनिष्टो को रोकना था। भगवान बुद्ध ने उसे बताया कि अपनी रक्षा करने का सही रास्ता यह है कि अपने माता-पिता को वह पूर्व दिशा समझे, अपने गुरुओ को दक्षिण दिशा, अपनी पत्नी और बच्चो को पश्चिम दिशा, अपने मित्रो को उत्तर दिशा, अपने भृत्यो को अधो दिशा और महन्तो और ब्राह्मणो को ऊर्ध्व दिशा समझें। और तब बुद्ध ने (१) माता-पिता और पुत्र, (२) शिष्य और गुरु (३) पति और पत्नी (४) मित्र (५) स्वामी और भृत्य और (६) गृहस्थ और पुरोहित के सम्बन्धो की व्याख्या की। यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध कन्फ्यूशियन नीति के पाच सम्बन्धो की याद दिलाते है जिनमें से तीन तो उनके और बुद्ध के विधान में उभयनिष्ठ है, माता-पिता और पुत्र, पति और पत्नी, और मित्र। चीनी लोगो से भिन्न एक भारतीय में राजनीतिक अभिरुचि के स्थान पर धार्मिक-वृत्ति अधिक होती है, इसीलिए बुद्ध गुरुओ और उनके शिष्यो और गृहस्थ तथा पुरोहित के सम्बन्धो पर अधिक ज़ोर देते है तथा शासक और शासित के पारस्परिक कर्तव्यो को छोड देते है।

बुद्ध नियमो के प्रति मतान्ध या कट्टर नही थे। जीवन की अनन्त परिवर्तित परिस्थितियो के अनुकूल वह उनका मेल बैठाने के लिए तैयार थे। उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि सूक्ष्म बाह्य-नियमो और विधानो से मनुष्य की नैतिक स्वायत्तता पर आघात न पहुँचने पाये। बुद्ध ने इस बात की प्रयत्न-पूर्वक घोषणा की है कि बाह्य-अधिकारो द्वारा व्यक्ति-चेतना का अतिक्रमण नही होना चाहिए। अपने ऊपर आने वाली बुराइयो या प्राप्त होने वाली भलाइयो में प्रत्येक मनुष्य, कर्म के विधान के अनुसार अपने ही बोये हुए बीजो--कर्मो के फल पाता है। कर्म-विधान के व्यवहार में हस्तक्षेप करने वाली कोई

स्वेच्छाचारिणी या चपल दैवी शक्ति नही है। हम जो कुछ रहे हैं वही, हम जो कुछ हे उसका, निर्माण करता है। बुद्ध यह स्वीकार करते हे कि मनुष्य के लिए कुछ सामान्योपरि या अलौकिक शक्तियो का प्राप्त कर सकना सम्भव है जैसे हवा में तैरना आदि , यह शक्तियां कुछ ऐसी विशिष्ट आध्यात्मिक सामर्थ्य का विकास करने से प्राप्त होती हे जिसका बहुत लम्बे अरसे तक प्रयोग न होने से क्षय हो जाता है। बुद्ध ने इन शक्तियो को धर्म मे कोई महत्वपूर्ण स्थान नही दिया। श्री कन्फ्यूशियस की भॉति वे भी इस सम्बन्ध में अत्यधिक वाग्यती बने रहे।[1] समाधि और मूर्छा को वे असन्तोपप्रद मानते थे।[2]

श्री कन्फ्यूशियस की भॉति बुद्ध भी लोक प्रचलित देवताओ के अस्तित्व को अस्वीकार नही करते और न उनकी पूजा का निषेध ही करते है। ये देवगण ससार के सृष्टा और शासक नही है, बल्कि ये आध्यात्मिक सत्तायें हे जिनके पृथक-पृथक क्षेत्र और पृथक पृथक शक्तियाँ हैं। परम-सत्ता के साथ उनकी तुलना नही की जा सकती है।

अपने लक्ष्य तक पहुँचने पर हमे वोधि—अन्तर्ज्ञान, पूर्णता और दृष्टि की शुद्धता की प्राप्ति हो जाती है। ससार के स्वप्न से हम जाग पडते है। सम्यक् ज्ञान बौद्ध-साधना-पथ का सप्तम अवस्थान है, इस पथ का अन्तिम लक्ष्य है सम्यक् आनन्द। निर्वाण का शब्दिक अर्थ हे इच्छाओ का शमन—काम, द्वेष और मोह की अग्नि का शमन। यह कोरी शून्यता नही है, क्योकि भगवान् बुद्ध ने शमन का अर्थ विनाश या अनस्तित्व मानने का विरोध किया है। निषेधार्थ में निर्वाण का तात्पर्य है अनित्य से मुक्ति और उसका प्रविकल्प अर्थ है अनन्त-जीवन। इस स्थिति का

---

[1] Cp Analects, VII 20.

[2] सयुत्त निकाय, ३६, १६।

सम्यक वर्णन नही किया जा सकता क्योकि यह स्थिति हमारी सामान्य चेतना के स्तरो से अत्यन्त परे है। निर्वाण अजन्मा, असृष्ट और अमर है।[1] "फिर भी वह परमानन्द है, परम सुख है। जिसने निर्वाण की प्राप्ति कर ली है वह 'गम्भीर, अनवगाह्य, और अमेय है जैसे गहन सागर।' 'निर्वाण का परमानन्द इस वर्तमान जीवन में प्राप्त होता है। यह वह आनन्दावस्था नही है जो किसी आने वाली दुनियाँ में प्राप्त होने को हो, वल्कि आत्मा की पूर्ण-मुक्ति है जो यही इसी जीवन में प्राप्त होती है। यह कोई विश्राम की जड स्थिति नही वल्कि एक सक्रिय परम शान्ति है। जव हमें ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जव जीवन का सत्य अर्थ और उद्देश्य हम समझ पाते है, तव दुष्कृत्यो की क्षति-पूर्ति, अन्याय के दमन, दु खो की निवृत्ति और मानव-जाति के आध्यात्मिक कल्याण में सहयोग करने की हमारी इच्छा होगी। स्वय भगवान् वृद्ध का अपना जीवन ही एक असीम और अगाध शान्ति तथा विश्वानुकम्पा का उदाहरण है। गम्भीर ज्ञान और असीम प्रेम निर्वाण के लक्षण है। जहाँ एक ओर हीनयान में अर्हत की कल्पना चिन्तन-स्वरूप में की गई है वहाँ दूसरी ओर महायान के वोधि-सत्त्व की कल्पना दया सागर भगवान् के रूप में की गई है जो सभी मनुष्यो की ज्ञान-प्राप्ति सम्भव बनाने के लिए अपने परम निर्वाण को स्थगित कर देते हैं।' "यत मेरी यह कामना है कि सभी सचेतन प्राणियो को नितान्त मुक्ति प्राप्त हो, अत मैं अपने सगी जीवो का त्याग नही करूँगा।"[2] ऐतिहासिक वुद्ध के व्यक्तित्व में अर्हत की शान्ति और विरक्ति तथा वोधि-सत्त्व के प्रेम और उनकी अनुकम्पा का सयोग है। मैत्री और सत्य-

---

[1] अजातम्, अभूतम्, अमृतम्—उदान।

[2] अवतसक सूत्र।

निष्ठापूर्ण अपने लम्बे जीवन में उन्होंने धनी और निर्धन, पुरुष और स्त्री, सामान्य जन और विद्वान्, पापी और महात्मा सभी के प्रति प्रेम और पवित्रता की शक्ति प्रदर्शित की। पिटको में बुद्ध की सर्वज्ञता और पवित्रता का वर्णन किया गया है और उन्हें अनेक बार देवताओ का अनुशासन करते और उनका सम्मान पाते दिखाया गया है।

महायान बौद्ध-धर्म का प्रारम्भ

बुद्ध की मृत्यु के बाद बहुत शीघ्र पाखण्ड उठ खडा हुआ और बुद्ध के आलेखो में भी (तीसरी शती ई० पूर्व) मत-विभेदो की चर्चा है। विभिन्न शाखाओ के इन विवादो का समझौता करने के उद्देश्य से २४० ई० पूर्व के लगभग अशोक ने एक परिषद् बुलाई थी। समय बीतने पर कई शाखाओ का विकास हुआ जो मोटे तौर पर हीनयान और महा-यान में विभक्त है। महायान का यह नाम इसलिए पडा कि उसमें प्रेम और श्रद्धा द्वारा सभी जीवो के उद्धार की आशा ठीक उसी प्रकार दिलाई गई है जिस प्रकार ज्ञान के द्वारा। कनिष्क के शासन-काल मे, जो ई० स० की पहली शती के उत्तरार्ध में थे, काश्मीर में एक परिषद् बैठी थी जिस में महायान बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया गया था। हीन-यान के शास्त्र-ग्रन्थ पाली भाषा में सुरक्षित है और यह दावा किया जाता है कि वेही ग्रन्थ महात्मा बुद्ध के युक्ति-सिद्ध हेतु-न्यायवादी और भिक्षुओ के विहार-आश्रम सम्बन्धी उपदेशो का प्रतिनिधित्व करते हैं। महायान के शास्त्र-ग्रन्थ संस्कृत मे है। महायान में ऐसे विकास की व्याख्या है जो रहस्यवादी और भक्ति-मूलक है। हीनयान मे त्रि-रत्न पर विश्वास किया जाता है, वे त्रि-रत्न है, (१) बुद्ध, (२) धर्म और

(३) सघ। बुद्ध का सत्यस्वरूप है उनकी अन्तर्दृष्टि--बोधि या ज्ञान-ज्योति, उनका धर्म। धर्म का जानना ही बुद्ध का जानना है। धर्म ही बुद्ध की काया है। यह धर्म-काया ही मूल तात्विक-सत्ता है जो अमलिन है, अपरिवर्तनशील है, अप्रतिम है और सर्वोपरि है।

आध्यात्मिक आदर्शवाद और भक्तिमूलक विश्वास के समन्वय में महायान विचार-धारा भगवद्गीता से मिलती जुलती है। दोनो में ही यह उपदेश है कि अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है--केवल उसे निष्काम होना चाहिए। दोनो में ही श्रद्धा पर जोर दिया गया है। दोनो की ही घोषणा है कि यदि हम मृत्यु के समय कृष्ण या अमिताभ का चिन्तन करें तो हम उन्ही के धाम को प्रयाण करते है। स्वर्ग के द्वार स्त्रियो और समाज से बहिष्कृत लोगो के लिए खुले हुए है। जैसे-जैसे भक्ति की महत्ता बढती जाती है, चिन्तन पूजन में परिवर्तित होता जाता है और उपदेशक बुद्ध एक देवता बन जाते है।' "मै ससार का पिता हूँ। सभी मनुष्य मेरे बच्चे है और सभी को बुद्धत्व प्राप्त होना है।"[1]

महायान बौद्ध-धर्म रहस्यवादी भक्ति और आध्यात्मिक आयाम का धर्म है। "अपने रुग्ण साथी की सेवा स्थविर करे, वह मेरी ही सेवा कर रहा है"—बुद्ध ने अपने एक मार्मिक अवतरण में कहा है। सेवा और आत्म-बलिदान पर बुद्ध ने जोर दिया है। यदि हम बुद्ध की शरण जाते है तो इसका यह अर्थ है कि बुद्ध और उनके पुजारी के बीच कोई सम्बन्ध है। निर्वाण-प्राप्ति के पहिले बुद्ध एक बोधि-सत्त्व थे। बोधि-सत्त्व रूप में बुद्ध का चरित्र दीपकर के समय से प्रारम्भ होता है जो चौबीस बुद्धो में से प्रथम थे। अगणित जन्मो और यातना तथा बलिदान

---

[1] सद्धर्म पुण्डरीक।

के जीवनो को पार करते हुए गौतम लक्ष्य की ओर आगे बढते है। एक बोधिसत्त्व भावी बुद्ध है, कोई भी जो अपने वर्तमान या भविष्य जीवन में बुद्ध होने के लिए निश्चित है। जातक या जन्म-कथाओ मे अनेक बोधि सत्त्वो की चर्चा है। मिलिन्द पण में मैत्रेय बोधि-सत्त्व की चर्चा है[1] महापयान सूत्त जैसे अन्य ग्रन्थो में पूर्व-बुद्धो का वर्णन आया है जो चौबीस बताये गये है। एक दृष्टि से हम सभी बोधि-सत्त्व है, यद्यपि हमारे भीतर जो बोधि है वह अभी प्रगट नही हो सका। जिनमें बोधि प्रगट हो जाता है वे अपने समस्त कार्यो को ससार की रक्षा की सिद्धि मे लगा देते है। गौतम के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि धरती पर एक भी ऐसा स्थान नही है जहाँ अपने किसी न किसी पूर्व-जन्म में उन्होने अपना जीवन दूसरो के लिए बलिदान न किया हो। बोधि-सत्त्व ससार के दु खो से उदासीन या निरपेक्ष नही रह सकते। वे अपना जीवन-मार्ग प्रारम्भ करते है "ससार के प्रति अपनी करुणा के कारण, देवो और मनुष्यो समेत समस्त ससार के लाभ, कल्याण और सुख के लिए, समस्त जीवो के पूर्ण निर्वाण के लिए　　इसलिए उन्हें बोधि-सत्त्व महा-सत्त्व कहा जाता है।[2] चन्द्रकीर्ति का कहना है कि जैसे नवीन चन्द्रमा की पूजा की जाती है न कि पूर्ण-चन्द्र की, उसी प्रकार बोधि-सत्त्वो की उपासना बुद्धो की अपेक्षा अधिक की जाती है। "जब मै पास ही खडा हुआ हूँ तब क्या कोई दूसरा किसी छोटे काम को करेगा? यदि अपने गर्व के कारण मै वह काम नही करता तो अच्छा है कि मेरा गर्व नष्ट हो जाय　　तब दृढ आत्मा के साथ अकर्म के कारणो को मै नष्ट कर दूगा, यदि वे कारण मुझे पराजित कर ले जाँय तो त्रैलोक्य-विजय की

---

[1] दीर्घ निकाय, १०, ६, ५, १५,

[2] सधर्मपुण्डरीक।

मेरी महत्त्वाकांक्षा तो एक मजाक हो जायगी। मै सब पर विजय पाऊँगा, कोई भी मुझ पर विजय नही पायेगा।"[1] भगवान् बुद्ध का अपना जीवन इस तथ्य का उदाहरण है कि यहाँ इसी जीवन में हम अनवरत प्रयत्न से परम-शान्ति और सुख प्राप्त कर सकते है और इसके साथ ही साथ ससार के लिए कल्याणकारी कार्य कर सकते है। बोधि-सत्त्व करुणा और ज्ञान के देवदूत होते है जो यातना-ग्रस्त मानवता की सहायता के लिए अपने निर्वाण-प्रवेश को अनिश्चित काल के लिए स्थगित किये होते है। श्री अवलोकितेश्वर और मजुश्री जैसे महान बोधि-सत्त्व निर्वाण में प्रवेश करने से इसलिए इनकार कर देते है कि वे ससार की यातनाओ का प्रशमन कर सकें। बोधि-सत्त्व बुद्ध-प्रभव होते है और उनका प्रारम्भ होता है। वे ससार के सृष्टा नही है बल्कि मानव-जाति के सहायक है। बुद्ध स्वय सृष्टा नही थे बल्कि केवल एक चिकित्सक थे—एक त्राता—जिसने मुक्ति का एक मार्ग निर्दिष्ट किया। बोधि-सत्त्व-आदर्श हिन्दुओ की अवतार-धारणा का प्रतिरूप है। बोधि-सत्त्वो या पारमितो के गुण है उदारता, नैतिकता, क्षमा, एकाग्र-चिन्तन और सर्वातिशायी ज्ञान, और आगे चल कर इन गुणो में पाच और गुण जोड दिये गये—प्रातिभ-ज्ञान, शक्ति, सकल्प, उपदेश-कौशल्य

[1] श्री शान्ति देव के बोधि चर्यावतार (७ वी शती ई०)—अंग्रेजी अनुवाद श्री बार्नेट द्वारा (१६०२)—में उन लोगो के लिए आचार-निर्देश दिये हुए है जिन्हें बोधि-सत्त्व बनने की अभिलाषा हो। उन्हें दृढ नैतिकता, शान्ति, ऊर्जस्विता, चिन्तन और ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बुद्धो और बोधि-सत्त्वो के प्रति उन्हें भक्ति रखनी चाहिए। जो भी विभूति उनमें हो या वे प्राप्त करें वह सब दूसरो को देनी चाहिए और समस्त प्राणियो की मुक्ति के लिए उन्हें अपने आप को बलिदान करना चाहिए।

और करुणा। यहाँ सहनशीलता और शक्ति की अपेक्षा उदारता पर और करुणा पर अधिक जोर दिया गया है।

महायान सम्प्रदाय मे इस सिद्धान्त पर विश्वास है कि एक का गुण दूसरे में अवस्थित किया जा सकता है। समस्त जीवन के अन्योन्याश्रय पर इस मत में जोर दिया गया है और यह स्वीकार किया गया है कि एक के द्वारा अर्जित गुण या विभूति का उपयोग दूसरो के कल्याण में किया जा सकता है। कोई भी मनुष्य केवल अपने आप के लिए ही नही जीता।

महायान का अध्यात्म-शास्त्र

अद्वैत वेदान्त की भाँति महायान विचारको का विश्वास है कि परम-तत्त्व समस्त सकल्पो से परे है और उसका वर्णन केवल सत्‌स्वरूप या सत्-सत्ता, भूततथता, अथवा शून्य कहकर किया जा सकता है, वह जो प्रयोग-सिद्ध निरुपण से शून्य है। तथागत, जो सत्‌सत्ता को प्राप्त हो चुके है, स्वय तथता या सत्ता मे समाहित हो जाते है। नागार्जुन कहते है--"वह कोई उत्पाद-उत्पति नही है, कोई उच्छेद-विनाश नही है, कोई निरोध नही है, कोई शास्वत नही है, कोई एकार्थ नही है, नानार्थ नही है, आगमन नही है, और निर्गम नही है।" यह दृष्टिकोण स्पष्ट करता है कि दृश्य-वस्तु-जगत से जो परे है उसके अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के सम्बन्ध में कोई निर्देश नही किया जा सकता। इस दृष्टिकोण से यह भी स्पष्ट होता है कि इस दृश्य जगत की वस्तुयें आत्म-विरोधिनी है और इसलिए अन्तत सत्य या सत्‌रूप नही है। उनका अस्तित्व केवल सापेक्ष है। यदि सब असत् ही है तो फिर बुद्ध

और उनके उपदेशो की ही क्या प्रामाणिकता है? नागार्जुन कहते है कि बुद्ध दो प्रकार के सत्यो की बात कहते है, एक तो परम सत्य, परमार्थ और दूसरा सापेक्ष सत्य, सवृत्ति। श्री असग और वसुबन्धु का योगाचार-सम्प्रदाय तीन प्रकार के ज्ञान स्वीकार करता है—(१) परिकल्पित सत्य, भ्रांतिपूर्ण ज्ञान जैसे रस्सी में साँप का बोध, (२) परतत्र सत्य, सापेक्ष ज्ञान जैसे रस्सी में रस्सी का बोध, और (३) परिनिष्पन्न सत्य, जहाँ हम यह स्वीकार करते है कि रस्सी हमारी मानसिक सृष्टि है और उसका अपना कोई अस्तित्व नही है। इन प्रथम दो को तो सापेक्ष ज्ञान (सवृत्ति) के भीतर ले लिया गया है और अतिम परमार्थ या परम सत्य है। योगाचार का मत है कि सभी वस्तुओ का प्रशमन एक अनन्त और सर्वाशय या सर्वोत्तम प्रज्ञा, आलय-विज्ञान में होता है। यह भी भूततथता की अभिव्यक्ति ही है स्वय भूततथता नही है। योगाचार के मत से पदार्थ-विश्व विचारो का बहिर्भूतीकरण है, पर सत्ता का और अधिक निर्विकल्प वर्णन आत्मा रूप में किया गया है, और समस्त विचार का मूल और आधार आलय-विज्ञान इस आत्मा का सर्वाधिक निकट उपस्थापन है।

जैसा कि अद्वैत वेदान्त में कहा गया है, हमारी अनुभूति का विश्व न तो म् विश्व मे भिन्न है और न उससे एक-रूप। यह मत गलत है कि माध्यमिक मत या सिद्धान्त ससार को सर्वथा अनस्तित्वमय मानता है। उसका तो नाम ही बताता है कि वह मध्य-मार्ग का सम्प्रदाय है। ससार न तो मूल-सत्ता है और न कोरा अनस्तित्व। पदार्थो की कोई परम या स्वतत्र सत्ता नही है, यथार्थता का यह गुण तो केवल नित्य-परम-सत्ता को ही प्राप्त है—और फिर भी पदार्थ नितान्त असत् या अनिस्तत्वमय भी नही है। उनका अस्तित्व उनके सम्बन्धो के कारण

है। अनुभूति के विविध अधिकरणो की एक सूक्ष्म और साहसपूर्ण
नैय्यायिक आलोचना करते हुए श्री नागार्जुन ने यह सिद्ध करने का
प्रयत्न किया है कि ज्ञान में हमें किसी प्रकार की निश्चयात्मकता नही
प्राप्त होती। फिर भी हमे सत्ता का एक आन्तरिक दर्शन होता है—
ज्योतिर्मय, अनवगाह्य, अनिर्वचनीय, गाम्भीर्य और अपरिसीम-प्रसन्नता-
पूर्ण। मूल प्रकृति का प्रातिभ ज्ञान, प्रज्ञापारमिता, ज्ञान की पूर्णता,
प्राप्त की जा सकती है। दृश्य-जगत एक अर्थ में उससे भिन्न है और
दूसरे अर्थ में उससे एक-रूप है। यह मत, जो शकर का है—यह कि
ससार सत् असत्-विलक्षण है—माध्यमिक सम्प्रदाय की यह मान्यता
बुद्ध के उपदेशो से मेल खाती है। यह कि पदार्थ सत् है, एक अतिवाद
है, यह कि पदार्थ असत् है, दूसरा अतिवाद है। तथागत ने इन
अतिवादो से अपने को बचाया और उन्होने मध्यम-मार्ग का उपदेश
दिया है।"

जहाँ परा-विद्या के मत से केवल परम-सत्ता ही सत् है, वहाँ सामान्य
अनुभव या सापेक्षसत्य के ससार में ईश्वरवाद या आस्तिकवाद के साथ
अवतारवाद की भी मान्यता है।

महायान तीन कायाओ पर विश्वास करता है। (१) धर्म-काया
या सत्य काया, जो उपनिषदो के शुद्ध-ब्रह्म का प्रतिरूप है, (२) सम्भोग
काया या दैवी अभिव्यक्ति, जो ईश्वर या व्यक्ति-रूप विधाता का प्रति-
रूप है, (३) निर्माण-काया जो भौतिक अभिव्यक्तियाँ है, अवतारो के
प्रतिरूप, व्यक्ति-रूप बुद्ध।

धर्म-काया सर्वव्यापी मूलाधार है जिसमे किसी प्रकार का परिवर्तन या
सस्कार नही होता, पर जिसका आभास हमें विविध रूपो में मिलता है।
वह सब पदार्थो का अकर्तृक-मूलाधार है जिसे विविध नामो से अभिहित

किया जाता है—तत्त्व, शून्य, निर्वाण, समाधि-काया, बोधि, प्रज्ञा—वह अलौकिक ज्ञान जो प्रकृति और पुरुष के भेदो से ऊपर है, तथागत-गर्भ या सिद्धि लाभ करनेवालो का गर्भ, धर्म-धातु—समस्त पदार्थो का उत्पत्ति-विकास-स्थल, श्री अश्वघोष के महायान श्रद्धोत्पत्ति मे वर्णित भूततथता।[1] कहा गया है कि वह "न अस्तित्वमय है और न अनस्तित्वमय, न दोनो न दो में एक।" उपनिषदो में ब्रह्म के वर्णन और श्री लाओत्सू के ताओ के वर्णन की याद दिलानेवाली भाषा में धर्म-काया को इतना महान् बताया गया है कि समस्त विश्व उसके आक्रोष में आ जाता है और इतना लघु बताया गया है कि सुई की नोक से उसे भेदा नही जा सकता। वह शुद्ध आत्मा है, केवल ज्ञान, नानात्व के संसर्ग से मुक्त। केवल वही सत् है। धर्म-काया शून्य उसी अर्थ मे है जिस अर्थ में ब्रह्म निर्गुण है। बोधि-रूप में वह हम सबके भीतर अवस्थित है और हमे बुद्ध बनने के लिए प्रेरित करता है। उसे प्रज्ञा-पारमिता कहा जाता है और उसे देवी, सर्वेश की शक्ति के रूप में निरूपित किया गया गया है—वह आविर्भाविनी शक्ति जो आविर्भूत होनेवाले तत्व से अवियोज्य है। धर्म-काया समस्त पदार्थो की निःशेषता है। हमारे अज्ञान के कारण पदार्थो में नानात्व दिखाई देता है। योगाचार-मत से हमारा दृश्य-जगत् विज्ञान है—मानसिक अवस्थाओ की एक शृंखला है, माध्यमिक मत से वह असत् है।

स्वर्ग मे निवास करनेवालो के लिए परम-तत्त्व, धर्म-काया की अभिव्यक्ति सम्भोग-काया—आनन्द-स्वरूप के नाम-रूप में होती है—वह रूप जिसमें बुद्ध अपने दिव्य आवासो में प्रगट होते है, और धरती

---

[1] The Awakening of Faith

पर रहनेवालो के लिए उसकी अभिव्यक्ति निर्माण-काया के नाम-रूप में होती है। बुद्ध या बुद्धो को व्यक्ति-रूप ईश्वर माना गया है, पुरातन सर्वव्यापी और सर्व-शक्तिमान। जैसे ईश्वर को विष्णु या शिव माना जाता है वैसे ही सम्भोग-काया के भी अनेक रूप हो सकते है। सत्य के शोधक और उपदेशक बुद्ध का मानव-जीवन विश्व-तत्त्व की अभिव्यक्ति या उसका आविर्भाव है। यह आविर्भाव अगणित बुद्धो मे होता है, जो गोतम बुद्ध के पूर्वगामी हो चुके है और अनुगामी होगे और जो अन्य विश्वो में स्वर्गो के शासक है। यहाँ किसी अप्रतिम या आद्य-बुद्ध का प्रश्न ही नही है। असग कहते है—"यह असम्भव है कि केवल एक ही बुद्ध हुए हो, क्योकि फिर तो समस्त बोधि-सत्त्वो मे से केवल एक ही, शेष सब को छोडकर, ज्ञान-ज्योति प्राप्त कर सकेगा।"

फिर भी सभी बुद्ध एक बुद्ध-स्थिति के अग है, उस धर्म-काया—शुद्ध ज्ञान के अग जिसमे ज्ञाता और ज्ञेय एक रूप है। उपनिषदो के एक प्रसिद्ध श्लोक की उपमा लेते हुए आसग कहते है—"सरिताओ के जल अपने-अपने धरातल के कारण भिन्न जान पडते है, किन्तु एक बार सागर में प्रविष्ट हो जाने पर उन सब का धरातल एक हो जाता है और सब एक जल-राशि बन जाते है।" एक सामान्य बुद्ध-स्थिति में प्रवेश कर जाने पर सभी सन्तो की यही स्थिति होती है। बुद्ध-स्थिति प्राप्त कर लेने पर हम नवीन सृष्टि बन जाते है। महायान सम्प्रदाय में ऐतिहासिक बुद्ध के स्थान पर अनादि अनन्त बुद्ध की प्रतिष्ठा की गई है। धरती पर का उनका जीवन उनके अस्तित्व का सत्य और उपयुक्त स्वरूप नही है। सद्धर्मपुण्डरीक मे इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि बुद्ध ने सासारिक रूप कैसे धारण किया, जो उत्तर इस प्रश्न का बुद्ध ने दिया है वह हमें भगवद्गीता में कहे हुए कृष्ण के

वाक्य और जो जोहानी ईसा (Johannine Christ) के उत्तर की याद दिलाता है—"जब अब्राहम थे उससे भी पूर्वकालीन मै हूँ।" "तथागत इस त्रैलोक्य को अज्ञानी साधारण लोगो की भाँति नही देखते, वह पदार्थो को निरन्तर उपस्थित देखते है। तथागत, जिनको बहुत पहले पूर्ण ज्ञान-ज्योति की प्राप्ति हो चुकी थी, उनकी जीवन की अवधि अनन्त है। 'वह अतन्तागत है। जिन्हें शिक्षा की आवश्यकता है उनके कल्याण के लिए वह शरीर धारण करते है।" "जब लोग अविश्वासी, अज्ञानी और इन्द्रिय-सुखो के लोलुप बन जाते है तब विश्व की गति जाननेवाला मै घोषित करता हूँ कि मै तथागत हूँ और मै वह उपाय सोचता हूँ जिसके द्वारा इन लोगो को ज्ञानाभिमुख किया जाय--जिससे मै उन्हे बुद्ध-विधान के भागी बना सकूँ।"[1] श्रद्धालुओ के मोह-नाश और ज्ञान-वृद्धि के लिए बुद्ध किसी समय भी प्रगट हो सकते है। यह स्पष्ट है कि महायान सम्प्रदाय में परम सत्ता का हृदय एक भाव सूक्ष्म तत्त्व नही है बल्कि वह प्रेम और करुणा से आप्लावित है।

बुद्ध अनेक है, क्योकि महायान मत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य बुद्ध बनना है। इन सब बुद्धो में से सबसे अधिक जनप्रिय है अमिताभ या अमिदा। वे शुद्ध देश—सुखावती—के स्वर्ग में शासन करते है। युगो पहले अमिताभ एक महान् राजा थे जिन्होने अपना सिहासन त्याग दिया और सत्य की खोज में परिव्राजक बन गये। तत्कालीन बुद्ध के निर्देश में उन्होने बोधि-सत्त्व पद प्राप्त किया और बुद्ध बनने के अनेक सकल्प किये, समस्त जीवधारियो के त्राण और एक-

---

[1] देखिये भगवद्गीता, ४, ६-८।

ऐसे स्वर्ग के निर्माण की शपथें ली जिसमें पुण्यश्लोक आत्मायें शाश्वत सुख, ज्ञान और विमलता की स्थिति में निवास कर सकें। उनका सकल्प इस प्रकार है—"जब मै बुद्ध बनूं तो विश्व की दशो दिशाओ के समस्त जीवधारियो को मुझ पर विश्वास और आनन्दपूर्ण आस्था रखनी चाहिए, उन्हें मेरे स्वर्ग मे पुनर्जन्म पाने की एकान्त-कामना करनी चाहिए, उन्हें मेरे नाम का स्मरण करना चाहिए, चाहे वह दस ही बार या उससे भी कम करें और तब यदि उन्होने पाँच गर्हित पाप नही किये और सत्य-धर्म का परिवाद व निन्दा कथन नही किया तो ऐसे लोगो की मेरे स्वर्ग मे उत्पन्न होने की कामना अवश्य पूर्ण होगी। और यदि ऐसा न हो तो मै कभी भी बुद्धत्व न प्राप्त कर सकूं।" महायान भक्ति-साहित्य उपासना, कामना और समर्पण से भरे स्तुति-गीतो और प्रार्थनाओ से भरा पडा है जिनको पढकर वैष्णव और शैव स्तुतियो की याद आती है। बोधि चर्यावतार में कहा गया है—"मै दुर्बल हूँ, दीन हूँ। मेरे पास ऐसा कुछ भी नही जिससे अपनी अर्चना व्यक्त कर सकूं। लेकिन अपनी महान् उदारता मे ही त्राता स्वय मेरा समर्पण स्वीकार करें। मै अपने आपको अपने हृदय और सर्वस्व के साथ बुद्धो और उनके पुत्रो, (बोधि-सत्त्वो) के प्रति समर्पित करता हूँ। महासत्व मुझे स्वायत्त करें। मै आप की अर्चना करता हूँ और आप का दास होने की शपथ लेता हूँ।" लघु सुखावती व्यूह मे अमिताभ के स्वर्ग की चर्चा करते हुए लिखा है—"बुद्ध के उस देश मे जीवो का जन्म वर्तमान जीवन में किये गये सत्कर्मों के परिणाम और पुरस्कार स्वरूप नही होता। नही, बल्कि वे सभी पुरुष और स्त्री जो मृत्यु के समय एक, दो, तीन, चार, पाँच, छै, अथवा सात रातो तक अमिताभ के नाम को सुनते है और उसे अपने ध्यान में रखते है, मृत्यु के समय अमिताभ उनके सम्मुख खडे

रहेंगे। शान्त मन वे लोग इस जीवन से विदा लेंगे और मृत्यु के बाद स्वर्ग में उत्पन्न होंगे।"[1] जो लोग अमिताभ के स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं वे आध्यात्मिक शरीर ग्रहण करते हैं। अमिताभ का स्वर्ग निर्वाण नहीं है, वह तो बुद्ध-क्षेत्र है। महायान सम्प्रदाय में निर्वाण की कामना के स्थान पर मंगलमय पश्चिमी स्वर्ग में जन्म पाने की आशा प्रतिष्ठित की गई है।

यहाँ हमें भक्ति-सम्प्रदाय के सभी तत्व मिलते हैं। अमिताभ मनुष्यों को अपनी ओर खींचते हैं और उन्होंने अपने पुत्र गौतम को मनुष्यों का मार्ग-प्रदर्शन करके उन्हें अपने समीप लाने के लिए भेजा। अवलोकितेश्वर की पवित्र आत्मा के माध्यम से वह सर्वदा सुलभ है। यहाँ श्रद्धा द्वारा मुक्ति है। यदि अपने अन्तिम क्षणों में हम अमिताभ की तेजस्वी मूर्ति का चिन्तन करें तो हम उनके स्वर्ग को प्राप्त हो जाते हैं।

निर्माण-काया पूर्व-स्थिति द्वारा उत्सेधित दृश्य-स्थिति है जो इन्द्रिय-धारियों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए होती है। बुद्धों द्वारा ग्रहीत मानव-स्वरूप उनकी सत् प्रकृति की केवल आंशिक और अपर्याप्त अभिव्यक्ति मात्र है। हिन्दू आस्तिकवाद की भाँति यह स्वरूप दिव्य शक्ति द्वारा उपासकों के हेतु—सावकानाम् हितार्थाय—धारण किये जाते हैं। असंग का कथन है—"अपने अन्तर्तम में बोधि-सत्त्व को जीवों के प्रति वैसा ही प्रेम है जैसा किसी व्यक्ति को अपने इकलौते पुत्र के प्रति होता है। जैसे कपोतिका अपने बच्चों की रक्षा करती है और उन्हें अपने पंखों के नीचे लेने को स्थिर

---

[1] देखिए भगवद्गीता, ८-६।

रहती है वैसे ही कारुणिक बुद्ध जीवो की रक्षा करते है जो उनके बच्चे है।" बोधि-सत्व ससार और बुद्धावस्था के बीच मध्यस्थो का काम करते है।[१]

अवलोकितेश्वर और मजुश्री बोधि-सत्व करुणा और ज्ञान के मूर्त-रूप है। अवलोकितेश्वर प्राय नारी तारा के सग रहते है जिनकी पूजा एक नारी बोधि-सत्व के रूप में होती है। करुणा के देव के रूप में अवलोकितेश्वर नाना रूप धारण करते है। मजुश्री को हाथ में ज्ञान-करवाल और पुस्तक लिए हुए चित्रित किया गया है। इनके बाद मैत्रेय का स्थान है जिन्हें अजित भी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक बोधि-सत्व है। वे सभी सत्रस्त मानवता को क्लेश-मुक्त करने के लिए उस पर अपनी छाया डालते है।[२]

महायान की शिक्षा भारतीय धर्म के अनुरूप है इस दृष्टि से कि उसमें इतनी पर्याप्त उदारता है कि वह परम-सत्ता के अनन्त नानाविध

---

[१] प्लेटो के सिद्धान्त से तुलना कीजिये। फीड्रस और सिम्पोजियम (Phœdrus And Symposium) में 'प्रथम-सिद्धान्त' सर्वोपरि और "जीवन जगत् से परे" (Republic) प्रतिष्ठित किया गया है। यह मध्यस्थो द्वारा लोगो की इच्छाओ को परिचालित करता है, मध्यस्थ देव या दानव होते है जो मनुष्यो और परम दैवी शक्ति के मध्यवर्ती होते है, अमर होते है किन्तु धरती पर दियोत्तिमा के एरोस--कामदेव—(Diotima's Eros) की भाँति रहते है।

[२] एक यह दृष्टिकोण भी है कि आत्मा के तीन अवभास या आविर्भूत रूप है--अन्तर्निहित परम-सत्ता, ईश्वर में उसका आविर्भाव और उसीका सक्रियरूप, जो पिता परमेश्वर, पुत्र परमेश्वर और पवित्रात्मा परमेश्वर से मिलते-जुलते है।

प्रतीक रूपो को अपने में सम्मिलित कर सकती है। जो लोग इस व्यापक उदार दृष्टिकोण के लिए अभी तैयार नही है उनके लिए वह हीनयान सम्प्रदाय का उपयोग करती है। अज्ञानियो को सत्य का दर्शन कराने के अनेक मार्ग है। अन्तर्गूढ-सत्ता की विविध अभिव्यक्तियो के रूप मे अनेक प्रतीको को सहन और स्वीकार करने की क्षमता ने महायान धर्म को यह शक्ति दी है कि वह अपने आपको नवीन परिस्थितियो के अनुकूल बना सके। उसका अध्यात्म-शास्त्र और धर्म हिन्दू-धर्म के सबल प्रभाव में विकसित हुआ है। हिन्दू-धर्म की देव-सृष्टि से अनेक देवो और देवियो को स्वीकार कर लिया गया है। महायान में निर्वाण का वर्णन ऐसा किया गया है कि वह पहले से ही सम्पन्न सत्य तथ्य है। उसका निर्माण नही होता। जैसे ही हमारा अज्ञान नष्ट होता है निर्वाण हमें मिल जाता है। निर्वाण का अर्जन या सर्जन नही होता। निर्वाण न मुक्तानुबन्धी है और न उसका विनाश हो सकता है। समस्त प्रयोग-सिद्ध विभेदो और पदार्थो से वह ऊपर है। ज्ञान और प्रेम उसमें एकाकार है। जिन लोगो में बोधि-चित्त सजग हो जाता है वे भूत-समुदाय की रक्षा के लिए अपने आपको बलिदान कर देते है। यह सासारिक जीवन निर्वाण की सत्ता से हमे दूर नही ले जाता। उपपन्नता भी अस्तित्व ही है। यद्यपि यह जीवन असत् है फिर भी अर्थ-हीन नही है। विमलकीर्ति-सूत्र का कथन है—"जैसे कमल पुष्प सूखी धरती पर नही उत्पन्न होता बल्कि जलमय अन्ध कीचड से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार बोधिचित्त या ज्ञानमय हृदय की उत्पत्ति होती है। कामना और पाप के पक से ही बुद्धत्व के बीज अकुरित और विकसित होते है।" जब हम इस बुद्ध-प्रकृति, बोधिचित्त का विकास कर लेते है जो बुद्ध की तात्विक प्रकृति है, तब हम समस्त बुद्धो के साथ एक हो जाते है,

तब हमें प्रज्ञा अथवा आध्यात्मिक ज्ञान-दीप्ति और करुणा अथवा निस्वार्थ परहितरति प्राप्त हो जाती है।

महायान बौद्ध-धर्म ने लोगो को न केवल बुद्धो के स्वर्ग का आह्वान दिया बल्कि धरती पर एक व्यवस्थित और स्वस्थ जीवन की भी प्रेरणा दी। उसका उद्देश्य था सभी मनुष्यो को सुखी बनाना। ससार में जीवन को प्रेरणा धर्म-भावना से मिलनी चाहिए। जैसे अर्हत का आदर्श हटा कर उसका स्थान बोधिसत्व के आदर्श ने ले लिया, ठीक उसी प्रकार तापस के आदर्श का स्थान गृहस्थ के आदर्श ने ले लिया। कामना यह थी कि ससार में रहा जाय पर ससार का बन कर नही। महन्तो की परम्परा चलती रही पर देव-विभूति-सम्पन्न सामान्य व्यक्ति को भी गौरव-पद दिया गया। सस्कृत ग्रन्थ विमलकीर्ति-निर्देश[1] में वर्णित विमलकीर्ति का चरित्र बताता है कि कैसे हम लोगो में घुल-मिल सकते है, घरो में रह सकते हैं सामान्य लोगो और पापियो के मित्र बन सकते है और फिर भी साधु बने रह सकते है। विमलकीर्ति वैशाली में रहते थे पर 'केवल जीवो की रक्षा के आवश्यक उपाय के निमित्त, अत्यन्त सम्पन्न, सर्वदा दीनो की चिन्ता करने वाले आत्मानुशासन मे विशुद्ध, समस्त धार्मिक उपदेशो का पालन करने वाले, शान्ति के अभ्यास से समस्त क्रोध दूर करते हुए, उद्यम के अभ्यास से समस्त आलस्य दूर करते हुए, एकाग्र चिन्तन से समस्त क्षोभ मिटाते हुए, ज्ञान की पूर्णता से समस्त अज्ञान दूर करते हुए, यद्यपि वह सामान्य गृहस्थ मात्र थे फिर भी शुद्ध विहारिक अनुशासन

[1] मूल सस्कृत-ग्रन्थ खो गया है पर उसके चीनी रूपान्तर का अंग्रेजी अनुवाद प्रोफेसर इदुमी ने किया है--Eastern Buddhist III, (१९३८-३९)

का पालन करते थे, यद्यपि उनके एक पत्नी थी और बच्चे थे फिर भी वह शुद्ध धर्माचरण का पालन करते थे, यद्यपि वह परिवार से घिरे थे, फिर भी वह सासारिक जीवन से अपने को बिलकुल अलग रखते थे, यद्यपि हीरक-जटित सासारिक आभूषणो का प्रयोग करते थे फिर भी वह आध्यात्मिक विभा से विभासित थे, यद्यपि खाते-पीते थे फिर भी चिन्तन के आह्लाद से आनन्द पाते थे, यद्यपि द्यूतशालाओ मे जाते थे फिर भी जुआरी लोगो को सत्-पथ का प्रदर्शन करते थे, यद्यपि किम्बदन्तियो और पाखण्ड-पन्थो के ससर्ग में आते थे फिर भी अपनी सत्य-श्रद्धा पर कभी आँच न आने देते थे, यद्यपि सासारिक विद्याओ का उन्हें गम्भीर ज्ञान था फिर भी बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आध्यात्मिक तथ्यो में ही उन्हें सर्वदा आनन्द मिलता था, यद्यपि सभी प्रकार की वृत्तियो या व्यवसायो से वह लाभ उठाते थे फिर भी उनमें निमग्न हो जाने से बहुत दूर रहते थे, सर्वदा विद्यालय में प्रवेश करने पर युवको और अज्ञानियो को उपदेश देते थे, व्यभिचार के अड्डो या वेश्यालयो में प्रवेश करने पर सब को कामुकता की बुराइयाँ स्पष्ट करते थे, मद्य-विक्रेता की दुकान पर पहुँचने पर सबको उच्चतर पदार्थों की खोज के लिए प्रेरित करते थे, धनिको के बीच सद्धर्म का उपदेश देते थे, क्षत्रियो को शान्ति सिखाते थे, ब्राह्मणो के बीच पहुँचने पर उनका दर्प दूर करते थे, महामन्त्रियो को न्याय का उपदेश देते थे, राजकुमारो को निष्ठा कम कीजिये और पितृ-भक्ति का उपदेश देते थे, राजदरबार की महिलाओ को ईमानदारी का उपदेश देते थे, जनता मे सद्गुणो की कामना और रक्षा का उपदेश देते थे।" अपने अद्वैत अध्यात्म शास्त्र और आस्तिक-धर्म से समन्वित, महायान शाखा के अनेक सिद्धान्त और उनके विस्तृत प्रयोग भगवद्गीता के उपदेशो से मिलते जुलते, उनके

चीनी भाषा में अनुवाद किया था, एक ताओवादी रसायनिक को जीवन के अमृत की व्यर्थ खोज करने के कारण फटकारा था

कितनी व्यर्थ प्रार्थनायें यह
पाँच बीसियों के जीवन की
जो है इतना क्षुद्र कि जितना देख रहे हो?—
तब, जब अक्षय-जीवन रक्षित
मोद-भरा अपवर्ग तुम्हें अमितायु कृपा से।[1]

चीनी लोगो की गम्भीर आध्यात्मिक प्रकृति को बौद्धधर्म ने अपने नैतिक-अभ्यास द्वारा निर्वाण तथा आध्यात्मिक हेतु-वाद या कर्म योग के सिद्धान्त से बहुत उद्दीप किया। अस्थिर देवताओ और एक पूर्वावधारण मूलक दर्शन के दैवायत्तभाग्यवाद से पीडित लोगो को बुद्ध का सन्देश है "आदि और अन्त, काल और अनन्तता के प्रश्नो से परेशान मत हो।" "सत्य यह है—वह जो है, तो यह अवश्य होगा, वह जो उदय हुआ, उसी से इसका उद्भव है। यदि उसका अस्तित्व न हो तो इसका भी अस्तित्व न हो पाता। उसके लय हो जाने से इसका भी लय हो जाता है।"[2] बुद्धिवादियो को यह जानकर बडी आश्वस्ति मिलेगी कि यह विश्व व्यवस्था मूलक है और मनुष्य को अपने भाग्य-निर्माण की पूरी स्वाधीनता है। अन्तर्भावना और तितिक्षा के ताओवादी आदर्श पहले ही बौद्ध रहस्यवाद की अमूल्य विरासत हो चुके थे। ताओवाद के कुछ देवताओ को बौद्ध-धर्म में स्वीकार कर लिया गया।

---

[1] Saunders Epochs of Buddhist History (१९२४) पृष्ठ १२२।
[2] मज्झिमनिकाय, ७९।

साहित्य

चीनी भाषा में अनूदित होनेवाला प्रथम बौद्ध ग्रन्थ है बयालिस परिच्छेदो का सूत्र जिसका अनुवाद काश्यप मातंग ने किया था। इसमें श्री कन्फ्यूशियस के अनालेक्टस् की शैली में बुद्ध के उपदेशो के उद्धरण दिये गये है।

अनालेक्टस् की पद्धति में प्रत्येक पैराग्राफ का प्रारम्भ 'प्रभु कहते हैं' शब्दो से होता है। उसमें कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म, चिन्तन और तपश्चर्या तथा समस्त जीवन की पवित्रता का उपदेश दिया है। समस्त जीवन में पशु-जीवन भी सम्मिलित है। अर्हत को आदर्श माना गया है और बोधि-सत्त्व की धारणा का कोई उल्लेख नही है। चीन जैसे पितृ भक्ति के देश में विहार का जीवन या स्थविर-जीवन कभी जन-प्रिय नही हो सकता था, इसलिए इस वैखानस जीवन को कोमल जन-प्रिय बनाने के लिए इस सूत्र में पारिवारिक जीवन की स्तुति और उसका उत्कर्ष गाया गया है। यदि कोई स्थविर स्त्रियो से मिलता है तो उसे युवतियो को अपनी बहिने या बेटिया और वृद्धाओ को अपनी मातायें समझना चाहिए। अन्य हीनयान ग्रन्थो का अनुवाद ई० सन् की तीसरी सदी तक हुआ। चौथी सदी ई० के बाद हीनयान-साहित्य का अपकर्ष प्रारम्भ हुआ यद्यपि भारत से लौटने के बाद ह्वेनत्सैंग ने सर्वास्तिवाद ग्रन्थो का चीनी भाषा में अनूदित कराने में बडी अभिरुचि ली। वसुबन्धु के अभिधर्म-कोष का अनुवाद काफी पहले हो चुका था। हीनयान अपनी प्रधानत शास्त्रीय आध्यात्मिकता और शुद्धता-वादी कठोर नैतिकता के कारण चीन में जनप्रिय नही हो पाया।

भारत में जो मतभेद बौद्ध धर्म में उत्पन्न हुआ उसे चीन में प्रवेश

१२

होने से नही रोका जा सका। करुणा, पवित्रता, और सौजन्यता के अपने महान् आदर्शों के कारण महायान ने चीन की मन चेतना पर गहरा प्रभाव डाला। महायान का अध्यात्म रहस्यवादी और चिन्तन-मूलक होने के साथ-साथ बुद्धिवादी और सूक्ष्म तथा कठोर भी है, उसका नीतिशास्त्र व्यक्तिवादी और सामाजिक दोनो है।[1] इसके अतिरिक्त, चीन मे प्रवेश करते समय महायान बौद्ध-धर्म स्वय एक अस्थिर और निर्माण की दशा में था। इसलिए वहाँ उसका विशिष्ट विकास सम्भव हो सका। सन् १४८ ई० में पार्थियन राजकुमार आगिकाओ और उनके इण्डोसीथियन सहकारी लोकरस ने अमिता-युर्ध्यान-सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस ग्रन्थ ने एक सबल आस्तिकवाद की प्रतिष्ठा की जिसके लिए चीन सदियो से अपने को तैयार कर रहा था। सुखावतीव्यूह, प्रज्ञा पारमिता और अवतसक सूत्र के कुछ अशो का अनुवाद चीनी भाषा मे सन् १५० ई० तक हो गया और सद्धर्म पुण्डरीक और ललित-विस्तार सन् ३०० ई० के लगभग प्रकाशित हुए। धर्मरक्ष (२६६ से ३१३ ई०) ने सद्धर्म पुण्डरीक का अनुवाद किया था, उन्ही ने उल्लम्बन सूत्र को जनप्रिय बनाया जिसके द्वारा चीनी लोगो की मृतक श्रद्धा को बौद्ध धर्म में स्थान मिला। कुमारजीव ने, जो सन् ३८३ ई० में चीन आये थे, अश्वघोष और नागार्जुन की जीवनियो तथा कुछ अन्य दार्शनिक ग्रन्थो जैसे

---

[1] डाक्टर हूशी, जो बौद्ध धर्म के कोई बडे प्रशंसक नहीं हैं, स्वीकार करते हैं कि "बौद्ध धर्म एक अप्रतिहत शक्ति लेकर आया कन्फ्यूशियनवाद और ताओवाद की दैवायत्तभाग्यवादिता को उसने छिन्न-भिन्न कर दिया और आत्मा की अविनश्वरता का विचार चीनी जनता के हृदय में गहरे जमा दिया।"

अवतसक-सूत्र पर लिखी नागार्जुन की टीका और हरिवर्मा के सत्य—सिद्धिशास्त्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया। भारतीय स्थविर परमार्थ ने सन् ५५० ई० में अश्वघोष के महायान् श्रद्धोत्पाद का चीनी भाषा में अनुवाद किया। बाद में महायान् मत के अन्य अनेक ग्रन्थो का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

चीन के शासको—सम्राट वू (२६५ से २८० ई०) और सम्राट मिन (३१३ से ३१६ ई०)—ने बौद्ध धर्म के प्रचार मे बहुत रुचि ली और नानकिंग तथा चेगनान शहरो मे १८० से अधिक धार्मिक प्रतिष्ठान बनवाये। बाद के सम्राटो,—युआनती (३१७ से ३२२), मिंगती (३२२—३२५), चेंगती (३२६—३४२), कीनवेनती (३७१—३७२), हियायु-वूती (३७३—३९६) और नैनती (३९७—४१७)—ने बौद्ध धर्म को मान्यता व सरक्षकता दी। वी राजवश की नीव सन् ३८६ ई० में उत्तर से आई विदेशी जातियो ने डाली थी और यह राजवश ईसा की छठी शताब्दी के मध्य तक सत्तारुढ रहा, इस राजवश ने भी बौद्ध-धर्म के प्रसार को प्रोत्साहन दिया और अनेक बौद्ध ग्रन्थो के अनुवाद इसी के शासन-काल में हुए जैसे कुमारजीव, पुण्यत्राता तथा अन्य लोगो द्वारा किये गये अनुवाद।

विमल-धरामत या श्वेत-कमल-सम्प्रदाय

उत्तरी चीन के शासी स्थान मे उत्पन्न हुए एक चीनी बौद्ध श्री हुयी-युआन (३३३—४१६ ई०) ने महायान् सम्प्रदाय के विभिन्न मतो में सबसे प्रमुख मत विमल-धरामत की स्थापना भारतीय उपदेशको बुद्धयशस् और बुद्धभद्र की सहायता से की। उनकी प्रथम

दीक्षा एक सरोवर के निकट स्थित मठ मे हुई थी। उस सरोवर मे कमल फूल खिल रह थे इसीलिए उनके सम्प्रदाय का नाम श्वेत कमल-सम्प्रदाय पडा। पर चौदहवी सदी के प्रारम्भ के लगभग एक गुप्त राजनीतिक सस्था ने अपना यही नाम रख लिया, इसलिए उसके झझटो से बचने के लिए इस सम्प्रदाय के अनुयायियो ने इसका नाम बदल कर 'विमल-धरामत' कर दिया। श्री हुई-युआन तथा अन्य ताओवादियो को अपनी गम्भीरतम धार्मिक काक्षाओ और जिज्ञासाओ को तृप्ति देनेवाले उत्तर महायान में मिले जिसमे अमिताभ को सर्व-पिता या विश्व-पिता माना गया है। इस सम्प्रदाय मे अमितायुध्यान-सूत्र और वृहत् तथा लघु सुखावती व्यूह और अश्वघोष के श्रद्धात्पाद को शास्त्र-रूप में स्वीकार किया गया है।

इस सम्प्रदाय में समस्त आध्यात्मिक जटिलताओ और सूक्ष्मताओ को सीधे काटते हुए यह शिक्षा दी गई है कि अमिताभ पर सरल श्रद्धा और उनके नाम का अभिवन्दन और आवाहन मुक्ति देता है। इस उपदेश का मूल पुरातन है और उसका प्रभाव सार्वदेशिक। अन्य सम्प्रदायो में अमिताभ की उपासना को मुक्ति-मार्ग के रूप में स्वीकृति दी गई है, भले ही उसे एकमात्र मार्ग या सर्वोत्तम मार्ग न माना गया हो। अश्वघोष के महायान-श्रद्धोत्पाद मे एक सूत्र का उल्लेख है जो इस प्रकार है "यदि कोई व्यक्ति अपने मन-मस्तिष्क को पश्चिम स्वंगाधिवासी अमिताभ वुद्ध पर एकान्त-केन्द्रित और ध्यानस्थ कर देता है, और यदि उसके सत्कर्म सत्मार्ग पर होते हैं, और यदि वह उस आनन्दमय स्वर्ग मे उत्पन्न होने की कामना करता है तो वह वहाँ उत्पन्न होगा और निरन्तर वुद्ध के सम्मुख रहने से फिर कभी उसका पतन नही होगा।" "यदि हम अमिताभ वुद्ध के अनाद्यनन्त स्वरूप का

चिन्तन करें तो अन्तत हम भावी ज्ञान के लोक में पहुँच जायेंगे।"[1]

अमिताभ की धारणा किस प्रकार उत्पन्न हुई इसके विभिन्न वर्णन किये गये है। कहा जाता है कि बुद्धत्व-प्राप्ति की समस्त स्थितियो को पार करने के बाद वह अन्तिम बार आनन्द-लोक पश्चिमी स्वर्ग में उत्पन्न हुए जिसे सुखावती कहा जाता है। उसके बाद वह फिर कभी अवतरित नही हुए और इसलिए अपने दो बोधिसत्वो के माध्यम से, जो सृष्टि की सहायता करते है, वे अपना काम करते है। कुछ लोग अमिताभ को गौतम से तीन पीढी पूर्वज मानते है, और कुछ दूसरे लोग गौतम को ही अमिताभ के अन्तिम अवतारो मे से मानते है। कुछ और दूसरे लोग अमिताभ को समस्त बुद्धो का समन्वित नाम मानते है। नाम स्वय ही उन समस्त विभूतियो का प्रतीक है, जो बुद्धत्व के लिए आवश्यक है। 'अ' का अर्थ है शिवत्व, साधुत्व, 'मि' नैतिक आचार का प्रतीक है, 'ता' का अर्थ है चिन्तन और 'भ' है ज्ञान सुखावती व्यूह-सूत्र मे इसका वर्णन आया है कि किस प्रकार अमिताभ ने जीव-धारियो को दुख-मुक्त करने की वयालिस शपथे ली, किस प्रकार उन्होने अगणित पतित आत्माओ के लिए असीम विभूति और उद्धारक शक्ति सचित की और किस प्रकार वह "अखण्ड-आयुर्ज्ञान-बुद्ध" है, यह वर्णन स्वय गौतम का है। यदि हम परम-स्थिति तक अमिताभ का अनुकरण और अनुगमन करना चाहते है तो हम उन्हें अपनी आत्मा में ही पायेंगे। गौतम बुद्ध का सम्मान और अर्चन उपदेश और सम्प्रदाय के सासारिक प्रतिष्ठाता के रूप में है। निम्नलिखित सुन्दर विनय अमिताभ के प्रति कही गई है --

---

[1] IV

परम-पुनीत-पूर्ण-देव ! तुम भासमान
जग-जन-जीवन में और कण-कण में।
जैसे शुभ्र लीला-लोल चन्द्रिका विलोड़ित है
सरि-सर-सागर सहस्र जल कण में॥
सतत प्रवाहित प्रसन्न करुणा की धार
देव ! छोड़ती न जीव एक भी तपन में।
तिरता सतत शान्त भूत-दया पोत पूत
पार लाता दुःख पारावार एक क्षण में॥
व्याधि-बाधा-बाधित विकृत विश्व के महान्
त्राता हो, चिकित्सक हो देव ! तुम जग के।
पश्चिम का स्वर्ग सब-सुलभ बना के तुम
सबको बुलाते देव ! करुणा में पग के॥[1]

चीनी स्थविर श्री युनची ने अमिताभ की प्रतिज्ञा का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है —

है कदाचित् जीव ऐसा एक भी
कामना जिसकी कि पाए जन्म मेरे राज्य में
और श्रद्धा के प्रसन्नाश्वास में
मग्न मेरे नाम का
आह्वान करता है कभी दश बार भी,
तो न वह वंचित रहेगा उस महा अनुभूति से।
सिद्धि सबको प्राप्त होगी बोध की,—
बोध मेरी योजना का और धर्म-विधान का।
हाँ, सभी को सिद्धि होगी—प्राप्ति होगी ईश की।[2]

---

[1] Reichelt Truth and Tradition in Buddhism (1927) p 137
[2] Ibid पृ० १३९

शुद्ध वाह्य शून्यवाद पर आधारित इस भक्तिमूलक धर्म की प्रधान केन्द्रीय प्रार्थना है "श्रद्धाविश्वास युक्त मैं अमिताभ की शरण जाता हूँ।"[1] और यह प्रार्थना दक्षिण चीन से मचूरिया तक, जापान और कोरिया से साइबेरिया की सीमा तक गूँजती रहती है। यह प्रार्थना उस दिव्यसत्ता के हृदय तक पहुँचने का मार्ग खोल देती है, उस नाम तक पहुँचने का मार्ग जो सब नामो से ऊपर है, जिस नाम के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-लाभ हो सकता है और वह बुद्ध बन सकता है।[2]

इस सम्प्रदाय के दूसरे महान् उपदेशक है श्री तानहुआन (५०२—५४९ ई०)। उन्होने अमिताभ की धारणा की और अधिक व्याख्या—विवृति की। श्री सैनताओ के उपदेशो के द्वारा अमिताभ की धारणा में अनन्त जीवन और प्रतिनिधित्राता सम्बन्धी धारणायें सन्निविष्ट हो चुकी थी। अमिताभ और उनकी अनुकम्पा और शक्ति के दो महान् ज्ञापको या प्रकाशको को लेकर एक त्रिमूर्ति बन चुकी थी और मुक्ति या निर्वाण इन तीनो पर श्रद्धा रखने से प्राप्त होता है। यद्यपि विमल-धरामत का विश्वास है कि करुणा-दया-धवलिन

---

[1] Nau-Mo O-milo Fu — Chinese
Na-mo Amido Butsu — Japanese
Na-mo Amido pul — Korean

[2] "यह मध्य युग के ईसाई धर्म सघ के प्राचीन चूनिओमिष्टिका से भिन्न या निम्न और कुछ नही है जो यहाँ फिर एशिया की धरती पर प्रगट हुआ है . वही अन्तर्चिन्तन और आत्मा को परमात्मा में निमज्जित करना जो चिन्तन का सार या आत्मा है।"— Truth and Tradition in Buddhism by Reichelt, P 116

अमिताभ के हृदय तक पहुँचने का मार्ग भक्ति है, फिर भी अध्ययन और चिन्तन का बहिष्कार नही किया गया। समस्त सृष्टि को अमिताभ मे समन्वित समझने वाले ज्ञान और अमिताभ को अपना केन्द्र बनानेवाले ध्यान से अमिताभ पर श्रद्धा की भूमि तैयार होती है। बौद्ध मठो में एक चिन्तनागार होता है। मिंग राजवश के अन्तिम दिनो में रहनेवाले श्री सीमिंग कहते हैं "बुद्ध का नाम लेनेवाले सभी लोगो से मैं विनतपूर्वक प्रार्थना, अनुनय और प्रबोधन करता हूँ कि वे सत्यनिष्ठ हृदय से अमिताभ का नाम लेते चले और इस प्रकार शनै शनै उस स्थिति को प्राप्त करें जहाँ फिर हृदय को व्यामोह नही हो सकता, जब कमल अपने आप खिल उठता है और हृदय बुद्ध के दर्शन करता है।[१]

यह सम्प्रदाय महायान सम्प्रदाय का ही एक विकास है क्योकि यह ऐतिहासिक बुद्ध को अनाद्यनन्त सत्ता की अनेक अभिव्यक्तियो मे से एक मानता है—उस सत्ता की अभिव्यक्ति जिसे धर्म-काया अथवा तथता कहा गया है और शब्दो में जिसकी व्याख्या नही की जा सकती। बोधिसत्वयान अथवा बोधि-सत्त्वो के मार्ग पर उसे विश्वास है। इस मार्ग में दीक्षित होने के लिए हमें सघर्ष-रत मानवता के हित में बलिदान का जीवन बिताना होगा। यह मत श्रद्धा को उद्धारक तत्त्व मानने वाला है और उस महान् नवीन जन्म पर विश्वास रखता है जो पश्चिमी स्वर्ग मे जहाँ विश्व भर के महान् कारुणिक पिता का निवास और शासन है जिन्होने सर्वशक्तिशाली को धरती पर मनुष्य के रूप में भेजा है जो अब अपनी करुणामयी भावना

[१] The Catechism of The Pure Land Doctrine मे उल्लिखित।

(कुआनयिन) से लोगो को अपनी ओर आकर्षित कर रहे है। अपनी इन मान्यताओ के बल पर यह मत चीन की धार्मिक आत्माओ को एक ऐसा विश्वास देता है जो उनके हृदयो को छू लेता है।

चॉन बौद्धधर्म

चॉन या जेन बौद्ध-मत के प्रतिष्ठाता श्री बोधिधर्म है जो दक्षिणी भारत के काजीवरम के एक उपदेशक थे और गौतम के बाद ईश्वर-दूतो की अट्ठाइसवी पीढी मे होने का दावा करते थे। उन्होने अपने जीवन के नौ वर्ष चीन में (५२७ ५३६ ई०) ओयाग के निकट साओलिन बौद्ध-विहार में विताये थे। उन्हे कोई अधिक लोकप्रियता नही मिली, वल्कि एक 'शून्य-दर्शी ब्राह्मण' होने की प्रसिद्धि मिली थी। बोधिधर्म के समय मे महायान बौद्ध मत बाह्य-आचारो पर झुक रहा था। जब सम्राट लियागवूती ने जो नानकिंग में रहते थे, बोधिधर्म को बताया कि उन्होने बौद्धधर्म की उन्नति के लिए और सामान्य जनता मे उसकी जड मजबूती से जमाने के लिए बडी-बडी इमारतें बनवाई है और साहित्यिक कार्य की प्रेरणा दी है, तो बोधिधर्म ने उत्तर दिया "यह सब बाहिरी बातें हैं जिनसे कोई लाभ नही। सचमुच महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् चीजें वह हैं जो शान्त चिन्तन और मनन से प्राप्त हाने वाले ज्ञान और अन्तर्शुद्धि से प्राप्त होती है।" परम तत्त्व वर्णनातीत है। जब विमल कीर्ति ने एक बोधि-सत्त्व द्वारा व्यक्त किये गये अद्वैत सिद्धान्त के सम्बन्ध में मजुश्री से पूछा तो मजुश्री ने उत्तर दिया "जैसा कुछ मैं इसे समझता हूँ इस सिद्धान्त की दृष्टि तब होती है जब मनुष्य समस्त पदार्थों को अभिव्यक्ति, और उपपत्ति के समस्त स्वरूपो से बाहर और परे तथा

ज्ञान और तर्क से ऊपर मानता है। यह मेरी धारणा है। क्या मै आप से पूछ सकता हूँ कि आप इससे क्या समझते है ?" विमलकीर्ति मौन रहे। मौन ही उपयुक्त रहस्यात्मक उत्तर है। बुद्ध को जो नवीन अन्तर-दृष्टि बोधि वृक्ष के नीचे प्राप्त हुई, उसे उन्होने अपने शिष्यो को देने का प्रयत्न किया। बोधिधर्म ने उपदेश दिया था कि तात्कालिक अन्तर्दृष्टि की अनुभूति वही है जिसे मनुष्य को अन्तर्ध्यान और एकाग्रता के साधनो से प्राप्त करना चाहिए। बोधिधर्म महायान की व्याख्या करते हुए कहते है कि वह मनुष्य के हृदय में विवृत होने वाली एक प्रक्रिया का वर्णन है। वे यह स्पष्ट करते है कि रहस्यवादी मन सृष्टि के पीछे विश्वात्म-सत्य छिपे रहते है। यह आध्यात्मिक सत्य शास्त्रो की आप्तता या लोक प्रचलित उपासना पर आधारित या उनसे सीमित नही है। स्वर्ग का राज्य मनुष्य के हृदय में है। अमिताभ के स्वर्ग की आकर्षक कल्पना अथवा बुद्धो और बोधि-सत्त्वो की पौराणिक गाथाओ को बोधिधर्म कोई महत्त्व नही देते। बुद्ध की प्राप्ति मूर्तियो या शास्त्रो में नही बल्कि मनुष्य के हृदय में करनी है। मूर्ति पूजा को उन्होने बराया है और पौरोहित्य कला की बुराइयो की भर्त्सना की है।

चीनी जनता मे वैराग्य या तापसवाद पर और ससार के प्रति घृणा भावना पर अविश्वास की स्पष्ट प्रवृत्ति होते हुए भी हमेशा एक ऐसा सम्प्रदाय रहा है जिसे जीवन का सुख तापस-जीवन में ही मिला है। उन अनेक लोगो को बौद्धधर्म में ही जीवन के सुअवसर प्राप्त हुए जो चिन्तन के आनन्द को ही आत्मा का सच्चा जीवन मानते थे। सम्यक्-समाधि, ज्ञान, शान्ति और आनन्द की अपनी विशेषताओ के साथ अष्ट-विध मार्ग का लक्ष्य है। बोधिधर्म ने चिन्तन के अभ्यास को प्रोत्साहन दिया, यह अभ्यास वह अनुशासन है जिसके द्वारा हम विचार का नियत्रण करते है

और मन या मस्तिष्क को अन्य सब पदार्थों से हटा कर एक विशिष्ट पदार्थ या तत्त्व पर केन्द्रित करते है। चिन्तन के द्वारा हमें मानसिक शान्ति और नवस्फूर्ति प्राप्त होती है। धर्म का तात्त्विक लक्ष्य है अनाद्यनन्त सत्य का ज्ञान, उस सत्य का जो नित्य स्फुटोन्मुख है पर कभी भी परिस्फुटित नही होता। शास्त्र भी तभी महत्त्वपूर्ण है जब वे सत्य की अनुभूति-सिद्धि की ओर ले जायें। प्रकृति के अध्ययन से हम सत्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते है।

जो प्रवचन बोधिधर्म द्वारा सम्राट् वू-ती के दरबार मे किया गया बताया जाता है उसमें उन्होने अपने उपदेशो का सुन्दर साराश दिया है।

"हृदय बुद्ध है। उसके बाहर कोई सत्सत्ता नहीं है। विचार से भिन्न सब असत् है। मस्तिष्क या मन और हृदय से अलग न कोई कारण है न कोई कार्य, निर्वाण स्वय हृदय की एक दशा है। स्वय अपने भीतर बुद्धत्व के स्वरूप का दर्शन करो, यह बोध करो कि तुम बुद्ध हो और पाप नहीं कर सकते। न कुछ अच्छा है न बुरा, न अच्छाई है न बुराई, बल्कि केवल हृदय है और वही बुद्ध है और अपाप है। केवल एक पाप है—अपने बुद्धत्व की उपेक्षा करना। . यही अज्ञान है जो ससार-चक्र को चलाता है, ज्ञान-ज्योति ही है जो कर्म की शक्ति को नष्ट कर देती है। जो प्रबुद्ध है वह न पाप कर सकता है और न पुनर्जन्म ले सकता है। ओ मानव-हृदय, इतने विशाल कि संसार का आलिगन कर सको, इतने लघु कि सुई की नोक भी तुम्हें छू न सके —तुम्ही बुद्ध हो। चीन के लिए यही मेरा सन्देश है।"[1]

[1] श्री सान्डर्स Epochs of Buddhist History मे उल्लिखत (१९२४) पृष्ठ १३८।

बोधिधर्म के उपदेश ने अनेक बौद्ध शाखाओ का एक व्यापक सम्प्रदाय में सगम करा दिया। चिन्तन पर उनके आग्रह ने जहा एक ओर उनके अनेक अनुयायियो को ज्ञान-ज्योति और गहन शान्ति उपलब्ध की वही दूसरी ओर उसने एक निश्चेष्ट निरानन्द धार्मिकता को भी जन्म दिया जिसका परिणाम प्राय मानवता के कल्याण-जनक सकल्प-मूलक कार्यों में नही हुआ।

तियेन ताई (Tien Tai) मत के प्रधान प्रतिनिधि हैं श्री प्रथम ची। वे छठी शताब्दी के उत्तरार्ध मे थे, अपना अधिकाश जीवन चेकियाग प्रान्त मे बिताया जहाँ सन् ५९७ ई० में उनको मृत्यु हुई। यही तियेन ताई पर्वतो पर, जहाँ विहारिक जीवन का बहुत सबल विकास हो चुका था, उन्होने अपने सम्प्रदाय की नीव डाली और चार हजार से भी अधिक श्रमणो को अपनी परिपाटी मे दीक्षित किया। श्री प्रथम ची का प्रधान सिद्धान्त है बुद्ध के विविध वाक्यो को उनके जीवन के विभिन्न कालो से सम्बन्धित करके उनके बीच के विभेदो का मेल बैठाना।

१ प्रथम काल विभाग है ज्ञान-प्राप्ति के बाद बुद्ध के जीवन के तीन सप्ताह। बोधि-सत्त्वो के सम्बन्ध की उनकी शिक्षायें इसी काल की हैं।

२ जब बुद्ध ने यह देखा कि सामान्य लोग उनके उपदेशो को नही समझ पाते, तो उन्होने चार सत्य निर्धारित किये और यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार व्यक्ति अर्हत की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। इन बारह वर्षों की अवधि के उपदेश हीनयान-शास्त्रो मे अभिव्यक्त हुए।

३ जब उनके शिष्यो ने यह समझा कि वही पूर्ण-सत्य है तो बुद्ध ने उनकी भूल का सुधार किया और समझाया कि अभी कुछ और अधिक है। उन्हे केवल साधु ही नही बनना होगा बल्कि ससार के

परित्राण में भी भाग लेना होगा। महायान-शास्त्र इन आठो वर्षो की अवधि के उपदेशो का प्रतिनिधित्व करते है।

४ जब लोगो के मस्तिष्क में हीनयान और महायान के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय में भ्रम और सन्देह फैला, तब बुद्ध ने स्पष्ट किया कि महायान् की विचार-स्थिति तक पहुँचने के लिए हीनयान् उपक्रम-स्थिति है। यह काम उन्होने अगले २२ वर्षो मे किया और महा-प्रज्ञा-पारमिता-सूत्र जैसा शास्त्र इस अवधि के उनके आदेशो का विशिष्ट प्रतिनिधि है।

५ जब बुद्ध ७२ वर्ष की परिपक्व अवस्था में पहुँचें तब उन्होने इस महान् सिद्धान्त का उपदेश दिया कि प्रत्येक व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है, कि इसी उद्देश्य के लिए वह इस धरती पर आये थे और इस सार्वजनीन मुक्ति का उपदेश देने के लिए ही उन्होने जन्म का बन्धन स्वीकार किया था। इस अवधि के उनके उपदेश सद्धर्म पुण्डरीक में मिलते है, जो तियन ताई का प्रधान शास्त्र है। आगे चलकर परिनिर्वाण सूत्र और सुखावती व्यूह-सूत्र को भी इसी अवधि का मान लिया गया।

इस प्रवीण वर्गीकरण ने विचार और आचार की विविधता के लिए स्थान बनाया है और उसमे सहनशीलता की भावना का विकास होता है। इससे अमिताभ की अनन्त करुणा भी लक्षित होती है कि उन्होने सत्रस्त मानवता के लिए विविध मार्गो की अनुमति दी।

इस सम्प्रदाय में इस दृष्टिकोण को अस्वीकार किया गया है कि केवल चिन्तन ही पर्याप्त है, और यह माना गया है कि यद्यपि सब जीवो में बुद्ध-वृत्ति की स्थिति है फिर भी, भूलो को दूर करने और सत्-विचारो की प्रतिष्ठा करने के लिए निर्देशन आवश्यक है। यह मत अपेक्षाकृत

रूप से अधिक सार्वलौकिक था और इसमें साहित्य, कर्मकाण्ड और चिन्तनजन्य आह्लाद को भी स्थान मिला। प्रथम चो इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते है कि परम-सत्य के दृष्टिकोण से समस्त दृष्य-जगत असत् है, यद्यपि व्यावहारिक कामो के लिए वह सच है। दृश्य-जगत का अस्तित्व है भी, नही भी है। प्रथम ची वुद्ध के स्वरूप को एक आस्तिक दृष्टिकोण से देखते है। परम सत्ता का वर्णन वह इतने आत्म-कृत रूप मे नही करते कि "यह सभी शब्द सापेक्ष है ऐसे शब्द है जो हमारी मानव अनुभूति से सीमित है।" बुद्धत्व परम-सत्य मात्र नही है। बल्कि वह सतत् कर्तृत्व है जो निरन्तर भूत-कल्याण-रत है। आगे चल कर इस तियेन ताई-सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट पृथक् रूप समाप्त हो गया और वह ऐन्द्रजालिक-सूत्रो विधियो और अमिदा या अमिताभ की उपासना में घुल-मिल गया।

मन्त्रयान् अथवा तन्त्रयान् सम्प्रदाय का आविर्भाव पहले-पहल आठवी शताब्दी में हुआ था। वह तिब्बत के बौद्ध-धर्म का सगोत्रीय है। इस सम्प्रदाय के प्रथम चीनी प्रतिष्ठाता माने जानेवाले श्री वज्र बोधि इसे सन् ७२० ई० के लगभग भारत से चीन लाये थे। उनके उत्तराधिकारी श्री अमोघवज्र ने मृतको के प्रति धार्मिक-समाजो का प्रचार किया। यह अमोघवज्र भी एक भारतीय ही थे। अपने दार्शनिक पक्ष मे यह तन्त्रयान एक प्रतीकात्मक विश्व-देवतावाद है जो एक परम आत्मा को एक उद्भव-शृखला मे अभिव्यक्त या आविर्भूत होता हुआ मानता है, पर अपने प्रचलित रूप में यह अनेक देववादी और जादू टोने तथा इन्द्रजाल में विश्वास करनेवाला है। इस मत के प्रधान देवता है वैरोचन जो अमिताभ के स्थान पर माने जाते है। धर्म-काया अथवा भूत-तथता का प्रतिनिधित्व महावैरोचन करते है। इस

सम्प्रदाय में उनकी मुक्ति का वचन दिया जाता है जो कुछ विशिष्ट सूत्रो और आचारो को स्वीकार करते है। इस मत में अलौकिक और लौकिक सिद्धान्तो में विभेद किया गया है। अलौकिक दर्शन का प्रवीण ज्ञाता जीवित बुद्ध बन जाता है, उसे पूर्ण अन्तरस्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

वैरोचन समग्र विश्व है और उसके दो पक्ष है—पदार्थ-पक्ष—गर्भ धातु और अक्षर-पक्ष—वज्र धातु, और इन दोनो को मिलाकर धर्म-धातु रूप बनता है। वैरोचन के शरीर के विविध रूपो को प्रतीकात्मक रूप में अनेकवृत्तो से बनी आकृतियो द्वारा प्रगट किया जाता है। चूंकि यह विश्व विचार-मात्र है, इसलिए विचार अत्यन्त बलवती शक्तियाँ है। वशीकरणो, मोहन-मन्त्रो और ऐन्द्रजालिक सूत्रो का प्रयोग प्रधानत पाया जाता है।

चीन के बौद्ध-धर्म ने मन्त्रयान के इन विश्वासो को आठवी शती के उत्तर काल के लगभग स्वीकार कर लिया। अन्त्येष्टि-समारोह चीन के धर्म के एक महत्त्वपूर्ण अग है और आत्मा के भविष्य या भाग्य का नियन्त्रण करनेवाले कर्मकाण्ड बहुत आवश्यक हो जाते है। मृतको के प्रति होनेवाले समाज जो चीन के बौद्धो के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है बहुतेरे अन्धविश्वासो के साथ घुल-मिल गये है। जन्म और मृत्यु के अविरल-चक्र में छ श्रेणियाँ विभक्त की गई है। सर्वोच्च श्रेणी है स्वर्ग, जिसमें सत् आत्माओ का निवास रहता है। जब तक वह परम तत्त्व की प्राप्ति न कर लें तब तक वे काल-चक्र मे बाहर नही हो पाते। बोधि-सत्त्व इसी श्रेणी में रहते है। दूसरी श्रेणी मनुष्यो की है जहाँ व्यक्तियो का भाग्य-निर्धारण करने में कर्म का विधान काम करता है। यहाँ फिर अनेक श्रेणियाँ है। चीन के लोगो को अपने

पूर्वजो पर श्रद्धा रखने की शिक्षा मिली है और बौद्धो ने इस राष्ट्रीय विशेषता को सन्तुष्ट किया। यह विधियाँ और कर्मकाण्ड आजकल बहुत कष्टकर और प्रयत्न-साध्य हो गये हैं, जिन्हें अधिक सरल और गम्भीर बनाने की आवश्यकता है।

लामाओ का या लामायी बौद्ध धर्म

लामावाद का विकास तिब्बत में आठवी शताब्दी में हुआ। उस समय भारत मे मन्त्रयान् सम्प्रदाय प्रधान था, और जब यह सम्प्रदाय तिब्बत पहुँचा तब वह स्थानीय भूत-पूजा मे घुल-मिल गया। श्री पद्म-सभव तन्त्रवादी बौद्ध-धर्म के सर्वाधिक यशस्वी व्याख्याता है। उन्होने ल्हासा से लगभग ३० मील की दूरी पर साम्ये का बौद्ध-मठ स्थापित किया और शान्तरक्षित उस विहार के मठाध्यक्ष बने। इसी समय से लामाओ की परम्परा प्रारम्भ होती है। मानव-जाति के सहायको को क्रुद्ध पिशाचो के रूप में चित्रित किया गया है, यह क्रुद्धरूप पाप-पुज को भयभीत करने के लिए है, इसका परिणाम यह हुआ है कि लामा-मन्दिर पिशाच-पूजा के आलय मालूम पडते है।

तिब्बत के लामा-धर्म की प्रधान विशेषतायें यह है (१) धारणी और मण्डलाओ का प्रयोग—दैत्यो पर विजय पाने और अलौकिक शक्तियो की प्राप्ति के लिए, (२) यह विश्वास कि इन विधिया और साधनो से एक प्रवीण साधक न केवल किसी देवता का आवाहन कर सकता है बल्कि स्वय ही देवता का रूप धारण कर सकता है—देवता बन सकता है, (३) अमिताभ की उपासना और उनके स्वर्ग में विश्वास, (४) मृतात्माओ के हेतु विधिकृत्यो का अनुष्ठान और बलिदान, यद्यपि

जीव बलि नही दी जाती, और (५) मृत और जीवित गुरुओ की पूजा।

ग्यारहवी शती में अतिमा और अन्य उपदेशको की मन्त्रणा से एक नया विकास हुआ जिसका नाम रक्खा गया काल-चक्र। इसके अनुसार एक आदि बुद्ध है जिनसे अन्य बुद्धो की उत्पत्ति हुई है। यह सिद्धान्त माना गया कि विश्व की सृष्टि के लिए परम सत्ता ने पुरुष और प्रकृति या नारी-रूप धारण किया, प्रधान बुद्धो और बोधि-सत्त्वो को, इसी सिद्धान्त के अनुसार, भार्यायें प्राप्त हुई। इस नवीन उपदेश के सामान्य परिणाम असन्तोषजनक हुए।

लामायी बौद्ध धर्म का प्रचार उत्तरी चीन में मगोल राजवश के समय (१२८०—१३६८) मे हुआ। बौद्ध धर्म के लामायी और अन्य रूपो को पृथक् नही माना गया। लामायी बौद्धमत के अनुयायियो ने पुरोहित या पुजारी वर्ग के लिए अविवाहित जीवन पर अधिक जोर नही दिया और हम देखते है कि ऐसे लोगो की सख्या बढती गई जो पुरोहित या श्रमण का काम करते थे लेकिन शादी करते थे और मठो में नही रहते थे। जबसे मगोल शासको के अधीन चीन मे लामायी बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ—तेरहवी शताब्दी के मध्यकाल में—तब से तिब्बत के बौद्ध श्रमण और स्थविर चीनी बौद्ध धर्म के मामलो में प्रधान भाग लेते रहे है।[1]

[1] चिनयुइन पर्वतो पर के बौद्ध विहार में, जिसके अध्यक्ष स्थविर ताई सू थे, मैने एक उत्कृष्ट उपदेशक को देखा जो युवक श्रवणो को तिब्बती बौद्ध धर्म मे दीक्षित कर रहा था। चुगकिंग में मुझे एक तिब्बत से आये हुए 'जीवित बुद्ध' से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिन्होने मुझ से कहा कि वह "विश्व शान्ति के लिए प्रार्थना करने में अपना समय बिता रहे थे।" राजनीतिक कारणो से भी तिब्बती बौद्ध धर्म को चीन में प्रोत्साहित किया जा रहा है।

बौद्ध धर्म तथा अन्य धर्म

सम्राट् वानली (१५७३—१६२०) ने कहा था कि कन्फ्यूशियन धर्म और बौद्ध धर्म एक पक्षी के दो पखो की भाँति है। एक को दूसरे के सहयोग की आवश्यकता है। कन्फ्यूशियस ने एक अच्छे नागरिक के जीवन के लिए हमे कुछ सूत्र दिये है। उन्होने अपने युग के प्रचलित विचारो को स्वीकार कर लिया है और स्वर्ग की पूजा तथा पूर्वजो और आत्माओ के प्रति बलिदान का समर्थन करते है, लेकिन उनकी कोई निश्चित अध्यात्म विद्या नही है और वे स्वर्ग की पूजा के साथ नैतिक विधान का कोई सम्बन्ध नही जोडते। धर्म के भावना-मूलक पक्षो की कन्फ्यूशियस ने उपेक्षा की है। और इन्ही क्षेत्रो मे बौद्ध धर्म का महत्त्व है।

ताओवाद चीन का दूसरा धर्म है जिससे कन्फ्यूशियस ने नैतिक तत्त्वो को ग्रहण किया है। भौतिक अन्धविश्वासो के असगत हास्यास्पद वृत्तो को स्वीकार करके ताओवाद ने अपना कुछ पतन कर लिया, ऐसे वृत्त जैसे यह विश्वास कि एक विशिष्ट रसायन पीकर पार्थिव अमरता प्राप्त की जा सकती है। बाद मे आगे चलकर अपने सिद्धान्त मे अन्त सगति और अनुशासन प्राप्त करने के लिए ताओवाद ने बौद्ध धर्म से बहुत कुछ अगीकार कर लिया—उसके देवत्रय, पवित्र ग्रन्थ और मठ-परम्परायें। सर चार्ल्स ईलियट कहते है "मानवता के भावात्मक और आध्यात्मिक पक्षो को प्रभावित करनेवाले सिद्धान्त के रूप में ताओवाद यदि कन्फ्यूशियस के धर्म से श्रेष्ठ था तो बौद्ध धर्म से हीन था।"[1]

---

[1] Hinduism and Buddhism, Vol III (1921), P 229

एक अंग्रेज ईसाई धर्म-प्रचारक जिनका विश्वास है कि चीन के तीनो धर्म 'एक साथ, एक आध्यात्मिक नियोग के रूप मे, एक निम्न कोटि के है--अन्धविश्वासो से आवृत्त, और एक प्रबुद्ध आध्यात्मिकता के विकास के लिए अपर्याप्त है', कहते है कि "चीन के धर्मों में बौद्ध धर्म सर्वाधिक प्रभावपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्व रहा।[1] चीनी जनता की आत्मा पर बौद्ध-धर्म द्वारा डाले गये गम्भीर प्रभाव की चर्चा करते हुए नार्वे के एक ईसाई धर्म प्रचारक लिखते है "विचार, दृष्टिकोण, भविष्य के प्रति आशा, उत्सर्ग और निवृत्ति-भावना, अनिर्वचनीय पीडा और दु ख, ज्ञान-ज्योति और शान्ति की गम्भीर कामना, भूतमात्र के प्रति अवर्णनीय सहानुभूति और जीव मात्र की मुक्ति में शान्त स्थिर विश्वास—सब पर गहरी, बहुत गहरी रेखायें पडी है। यदि कोई चीन को समझना चाहता है तो उसे बौद्ध धर्म के आलोक में ही चीन को देखना होगा।"[2]

समकालीन स्थिति

चीन के लोग सौन्दर्य प्रेमी है। समूचा देश एक विशाल कला-मन्दिर है। चीनी लोग अपने सभी पदार्थों को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते है--अपने नगरो और मन्दिरो को, अपने खेतो और उपवनो को, अपनी मेजो और कुर्सियो को और अपने छोटे-छोटे चाय के प्यालों,

---

[1] Soothill The Three Religions of China (1929) P. 254

[2] Reichelt Truth and Tradition in Buddhism E T (1927) P 311.

भोजन के समय प्रयोग मे आनेवाली सजाइयो को। गरीब से गरीब नौकर भी जिन बर्तनो में भोजन करता है उनका एक अपना सौन्दर्य होता है। सौन्दर्य तो उनके जीवन की रचना में सम्मिलित है। उनके देश के दृश्यो मे वह रग बनकर छाया हुआ है। अनेक बौद्ध-मठ और बिहार सुन्दर स्थानो पर बने हुए है--चित्र-सुन्दर पर्वत-शिखरो पर, तलहटियो में सरिताओ के किनारे। इन पवित्र स्थानो मे हम ससार के कोलाहल और व्यापार से दूर प्रकृति की शान्ति और उसके सौन्दर्य के लोक मे जा पहुँचते हैं। यह मठ विभिन्न आकारो के होते है और इनमे चिन्तन-शालायें, अतिथि-शालायें, पुस्तकालय और कमलो से विभूषित सरोवर होते हैं। इन बौद्ध मन्दिरो में दिखाई देने वाली मूर्तियाँ यह है (१) स्वर्गीय बुद्ध, जिनमे गौतम बुद्ध, अमिताभ (भैषज्य-गुरू, विश्व-चिकित्सक), वैरोचन, लोशन और दीपाकर सम्मिलित है (२) बोधि-सत्त्व, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं कुआनयिन, मैत्रेय, मजुश्री, और सामन्तभद्र। (३) अर्हत जिनमे बुद्ध के सर्व प्रथम शिष्य और बोधिधर्म जैसे अन्य साधु सम्मिलित है। (४) रक्षक इष्ट-कुल-देव गण।

त्रिमूर्ति-धारणा का अर्थ विविध रूपो मे समझा गया है। दैनिक कर्मकाण्डो में प्रयुक्त होनेवाले प्रसिद्ध तीन वाक्य महायान् सम्प्रदाय के तीन काया वाले सिद्धान्त पर आधारित है।—

"मै धर्म की निर्मल सुन्दर काया, वैरोचन, म अपनी शरण लेता हूँ।

मै दिव्य धर्म-प्रकाशक पूर्ण काया, लोशन, म अपनी शरण लेता हूँ।

"मै उन शाक्य मुनि मे अपनी शरण खोजता हूँ जो अगणित युगो में धरती पर सशरीर आविर्भूत होते है।"

जहाँ कुछ मूर्तियो मे अब भी सौन्दर्य का सहज-बोध और उद्दीपन है, वहाँ दूसरी ओर बहुतो में ऐसी बात नही है। उत्ताल तरगो के कोलाहल से ऊपर एक सीधे सौन्दर्यमय कमल पर आसीन कुआनयिन की प्रतिमा आध्यात्मिक सकेतो, उद्देश्यो और अभिव्यजनाओ से भरी हुई है। वह पवित्र मुखमण्डल आश्चर्यजनक रूप से करुणा-कोमल और फिर भी अत्यन्त गम्भीर, अपने निमीलित लोचनो से अनन्त के साक्षात में लीन, दिव्य शान्ति का चित्र है। शिथिल विनत वाम बाहु में अनन्त प्रेम और करुणा है, उठी हुई एक दूसरे से मिली उँगलियो वाले ऊपर उठे दक्षिण बाहु में--जैसे वह उपदेश के समय ऊपर उठता है--एक अवर्णनीय पवित्रता है। कमल पर मृदु आसीन चरणो की पद्मासन मुद्रा, अनन्त के साक्षात में लीन निश्चल आदर्श-पूत मुखमण्डल, सब का उद्देश्य हमारे हृदयो पर पवित्रता के सौन्दर्य का प्रभाव डालना है। यह मूर्तिया अगोचर-आध्यात्मिक सत्ता के दृश्य प्रतीक है। विज्ञ बौद्ध इस बात पर विश्वास नही करते कि मूर्ति ईश्वर है और अध्यात्म-पथ पर आगे बढे हुए लोगो को मूर्तियो और मन्दिरो की आवश्यकता नही है, क्योकि वे जानते है कि व्यक्ति का अपना हृदय ही मन्दिर है।

प्रचलित ब्रह्मवादी विश्वासो को सरलता और उत्सुकता पूर्वक स्वीकार कर लेने से ऐसे देवताओ और सन्तो की सख्या बढती गई है जिन्हें सामान्य जनता अज्ञान-वश पूजती है। अनन्त की धारणा धूमिल हो गई है और जनता की दृष्टि कुठित। चीन के बौद्ध-धर्म में निम्नलिखित बातो को विशेष गौरव दिया गया है प्रार्थना मे दिव्य शक्ति के साथ सगम, ईश्वर का आनन्दातिरेक, उसकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रकृति में अशभागी होने और उसकी पवित्रता के

भागीदार होने की कामना। घण्टियो और ढोलो का सगीत और मत्रो का उच्चारण लोगो को धर्म के अस्तित्व, आध्यात्मिक जीवन के तत्व का बोध कराते है। मन्दिरो में जाकर और उस पवित्र सगीत को सुनकर कोई भी व्यक्ति, वह कितना ही नीच और पतित क्यो न हो, दिव्य ज्योति की एक झाँकी पा सकता है, उच्चतर जीवन की एक अनुभूति प्राप्त कर सकता है।

ससार के अन्य भागो की भाति यहाँ भी धर्म में एक यान्त्रिक पुनरुक्ति और आन्तरिक पवित्रता से हीन नियम-प्रेरित वाह्य उपासना मे पतित हो जाने की प्रवृत्ति है। वाह्य पवित्रता और निम्नकोटि की नैतिकता दोनो प्राय साथ दिखाई देती है। ऐसे लघु और चपल-बुद्धि व्यक्ति है जो इस आशा में पाप करते है कि अमिताभ अपनी अनन्त करुणा से उनका परित्राण कर लेगे। बौद्ध विहारो में अधिकाश वे अनाथ बच्चे भरती होते है जिनकी कोई रखवाली करने वाला नही होता। स्वभावत बौद्ध पुजारियो या श्रमणो की बुद्धि, उनका धर्म और उनकी शक्ति स्वस्थ-समर्थ नही होती। जीवन की शिथिलता या अनाचार बौद्ध पुरोहितो की ही कोई विशेषता नही है। कुछ ऐसे विद्वान् और धर्म-निष्ठ श्रमण सर्वदा रहते है जो जनता की दृष्टि से प्राय ओझल रहते है। वे अपने आश्रमो में अलग विरत शान्त जीवन बिताते है और संसार उनके सम्बन्ध में बहुत कम जान पाता है। सासारिक ज्ञान में प्रवीण श्रमण या स्थविर जो महत्त्वपूर्ण पदो तक अपना रास्ता बना लेते है, सर्वोत्तम कोटि के नही है, और फिर भी उन्होने सामान्य जनता को सत्यनिष्ठा, चरित्र और उदारता की प्राप्ति मे सहायता दी है। उन्होने बडे कठिन समय में अपने सगठनो का कार्य भार सभाला और सचालित किया है जबकि बौद्धो के अनेक पवित्र स्थानो को स्कूलो

में बदल दिया गया है और अन्य रूपों में भी सरकार ने उन पर कब्जा कर लिया है। अतिथियों को भोजन देने के बौद्ध आतिथ्य का ऐसा प्रयोग किया जाता है कि बौद्ध-विहार व्यापारी, यात्रियों और दर्शकों के लिए होटलों का काम देते हैं। ऐसी भावना लोगों में है कि प्रोटेस्टेन्ट ईसाई-धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों पर सरकारी अधिकारियों की रोष-दृष्टि रहती है।

चीन के बौद्ध-धर्म को अविलम्ब सुधार की आवश्यकता है। यदि ब्रह्मवाद में जनता के विश्वास को नष्ट करना है तो शिक्षा उसका सर्वोत्तम साधन है। जनता को प्रकृति और उसके विधानों के सत्य-ज्ञान की शिक्षा देनी होगी। केवल इसी साधन से भूतों के भय और ब्रह्मवाद के विश्वास को दूर किया जा सकता है। जादू टोने और अन्धविश्वास के आश्चर्यजनक रूपों पर जनता की श्रद्धा है। विद्वानों के बुद्धिवाद और उनकी नैतिकता ने जनसमूह को नहीं छू पाया। भारत की भाँति, शिक्षित व्यक्ति अन्धविश्वास-पूर्ण कर्मकाण्डों की सार्वजनिक निन्दा-करते हैं, उनका मखौल उड़ाते हैं लेकिन फिर भी स्वयं उनको करते हैं। धर्म के स्वरूप में सुधार करने के लिए ऐतिहासिक बुद्ध की शरण जाना आवश्यक है। उनका कहना है कि यदि हमें दुःख-मय जीवन से बचना है तो पूर्ण-ज्ञान की प्राप्ति और निस्स्वार्थ कर्म के अभ्यास से ही यह सम्भव हो सकता है। मैं देखता हूँ कि तिब्बती बौद्ध-धर्म पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है, किन्तु चीन के बौद्धों को गौतम बुद्ध की शरण जाना होगा और उनके चिन्तन और विश्व-कल्याण की कर्म-पद्धति को अपनाना होगा। व्यावहारिक बौद्ध धर्म को प्रभावपूर्ण परिवर्तनों की आवश्यकता है और कुछ बौद्ध नेतागण इस आवश्यकता को समझते हैं। चीन में बौद्ध धर्म के सबसे प्रधान

प्रतिनिधि है मठाध्यक्ष ताईसू, जो विद्वान् है, धार्मिक है और तेजस्वी है।
वह बौद्ध परिषद् के अध्यक्ष है। जो कुछ घण्टे उनके साथ उनके मठ में
बिताने का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ उनमे उन्होंने सुधार की गम्भीर
आवश्यकता और बौद्ध धर्म के प्रतिष्ठापक के प्रेरणात्मक आदर्श तक
वापस जाने की आवश्यकता के सम्बन्ध में अपनी भावनाओ से मुझे
परिचित कराया। नवम्बर सन् १९२५ में टोकियो मे हुई चीनी और
जापानी बौद्धो की एक समाज में उन्होंने महायान बौद्ध-धर्म को
पुनरुज्जीवित करने की अपनी योजना की रूपरेखा स्पष्ट की थी।
'सबसे पहला काम हमें यह करना चाहिए कि एक अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध
विश्व-विद्यालय की स्थापना करे जिसमें बौद्ध धर्म का प्रचार करने के
लिए लोगो को शिक्षित किया जाय। इस उपर्युक्त सस्था में दो विभाग
होने चाहिए, पहला विभाग विद्यार्थियो को भाषायें, विविध विज्ञान
और दर्शन जैसे उदार विषयो की शिक्षा देने के लिए और दूसरा बौद्ध
सूत्रो और धार्मिक अनुशासनो, बौद्ध धर्म के अलौकिक उपदेशो आदि की
शिक्षा देने के लिए। श्रमणो या स्थविरो को शिक्षित करने के अतिरिक्त
हमे जनता को विद्यालयो, अपने प्रकाशनो, भाषणो और नाटको आदि
से बौद्ध सिद्धान्तो के उपदेश देने चाहिए। यह उपदेश बाजारो मे,
सडको पर, रेलो और नावो पर, सिपाहियो के शिविरो, अस्पतालो,
फैक्ट्रियो और बन्दी-गृहो में दिये जाने चाहिए। हमारा तात्कालिक
उद्देश्य यह होना चाहिए कि जनता को अपने साथी मनुष्यो को प्यार
करना, देश के कानून का पालन करना, दैनिक धर्म-कृत्यो को तत्परता
के साथ पूरा करना, प्रार्थनाओ और बुद्ध के नामो का जपना आदि-
आदि गुण सिखायें जायँ। हमारी सामाजिक सेवाये यह होनी चाहिए,
(१) अकाल मे सहायता का काम, प्राकृतिक विपत्तियो की रोक थाम

और युद्ध में घायल हुए लोगो की औपचारिक सहायता, (२) फैक्ट्रियाँ स्थापित करके और अभी उपयोग में न आने वाली धरती को काम में लाकर उद्योगों की वृद्धि करना, (३) वृद्धो, अपगुओ और असहाय विधवाओ जैसे दीन असहाय लोगो की सहायता करना, और (४) पुल और सडकें बनाना और सडको पर रोशनी का प्रबन्ध करना, यात्रियो के लिए नि शुल्क नौका सेवा तथा अन्य जन उपयोग के ऐसे ही कार्य।"[१] यदि इनकी यह योजना सफल हो जाती है तो चीन में धर्म के प्रति सन्देह वृत्ति और भौतिकता की बाढ रुक जायगी। यदि चीन के शासक अपने पूर्व-शासको की परम्पराओ को अपनाये और सभी धर्मों का आदर करें और यदि बौद्ध मन्दिर और विहार अपने आप को आधुनिक परिस्थितियो के अनुकूल बना लें तो चीन में एक महान् जागरण हो जायगा।

17125

---

[१] The Young East, I 181-82

८

युद्ध और विश्व-सुरक्षा

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि राजनीतिक क्षेत्र के प्रख्यात नेताओ और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के निविष्टमन विद्यार्थियो से मिलने का यह सुयोग मुझे मिला। मै यहाँ विश्व-व्यवस्था और सुरक्षा की कोई सरल योजना प्रस्तुत करने नही आया बल्कि मै आपको इस जटिल और विषम विश्व के सम्बन्ध में अपनी कुछ आशाओ आशकाओ का भागीदार बनाने आया हूँ और आपसे यह सीखने आया हूँ कि मनुष्यो और राष्ट्रो के बीच किस प्रकार हम कुछ अधिक मानव-न्याय और सभ्य सम्बन्ध स्थापित कर सकते है। मानव-जाति के लिए यह कठिन परीक्षा के दिन है, आत्म-परीक्षण के दिन—हृदय टटोलने के दिन है। प्रसव पीडा और चित्कारो के साथ यह धरती आज काँपती और उसासे लेती मृत्यु और विनाश को जन्म दे रही है, सम्भव है जीवन और सृष्टि को भी जन्म मिल रहा हो। बुद्ध ने हमें विश्वास दिलाया है कि धर्म का चक्र निरन्तर घूमता रहता है। यह भयावह दुःस्वप्न सा ससार सर्वदा नही चल सकता। परिवर्तन होगा।

८ दिसम्बर सन् १९४३ को कैरो शहर में बोलते हुए फील्ड मार्शल स्मट्स ने कहा था कि इस वर्ष का बड़ा दिन युद्ध का अन्तिम

बडा दिन होगा और यह भी कहा था "अब फिर कभी यह आपत्तियाँ नही आनी चाहिए जिन्होने युग-युग से मानव सभ्यता को बरबाद किया है। मै आशा करता हूँ कि मानव जाति द्वारा झेली गई यह महान यातनायें व्यर्थ नही जायगी।" यही आशा समूचे ससार की है, और फिर भी भविष्य के सम्बन्ध मे बहुत बडी शकायें है।

हम से कहा जाता है कि मित्र-राष्ट्रो का प्रधान उद्देश्य है शत्रु को कुचल देना और सबके लिए मानव-स्वाधीनता की प्रतिष्ठा करना। स्वाधीनता और न्याय-भावना का प्रेम ही युद्ध-रत लोगो को, रूस, ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका, चीन, भारत, स्वतन्त्र चेक, स्वतत्र पोल और स्वतत्र फ्रासीसी लोगो को प्रेरणा दे रहा है। किन्तु हमारा पिछला अनुभव और वर्तमान लक्षण आशा को प्रेरणा नही देते। निर्णायक वर्ष वे नही होगे जब हम विजय के अभियान में आगे बढेगें बल्कि निर्णायक वर्ष होगे वे जो विजय के बाद आयेंगे। पिछला युद्ध ससार को प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित रखने के उद्देश्य से लडा गया था और उसका वास्तविक परिणाम हुआ था तानाशाही का विकास। जो कुछ होता है वह हमारे लक्ष्य से बिल्कुल भिन्न होता है। हमारे उद्देश्यो का मेल हमारी सिद्धियो से नही बैठता। जिन्होने राजनीतिज्ञो के वायदो पर विश्वास किया था, जिन्होने एक नवीन और सुन्दरतर ससार के सपने देखे थे, जिन माताओ ने अपने बच्चो की बलि दी थी और जो सैनिक घर वापस लौटे थे—उनमें कुछ तो श्रान्त-क्लान्त चीथडो में लिपटे भिखारियो की तरह सडको पर दियासलाइया बेचते हुए—उन सबके साथ विश्वासघात किया गया, सबको धोखा दिया गया और मानव जाति के दुख का दाव लगाने वाले जुआरी फिर गद्दिया दबोच बैठे और फिर वही पुराना खेल शुरू कि य जिसमे आज हमारा समूचा अस्तित्व, हमारा सुख, हमारा भविष्य फिर

सकट में है। परस्पर दोषारोपण व्यर्थ है, किन्तु यदि विजय और शान्ति दोनो को ही हमें गवा नही वैठना है तो अतीत को सूक्ष्म दृष्टि से देखना होगा, उससे सवक सीखना होगा।

दो युद्धो के बीच (१९१९-१९३९)

१९१९ और १९२० में आशा की जाती थी और लोग यह सोचते थे कि युद्ध से श्रान्त और परिखिन्न राष्ट्र शान्ति स्थापना के लिए समझौते के इच्छुक ही होगे। राष्ट्रपति विल्सन की चौदह-सूत्री योजना और लीग आफ नेशन्स—राष्ट्रसघ स्थापित करने के उनके प्रस्तावो का हार्दिक स्वागत किया गया और लोगो ने सोचा कि अब शान्ति, जो सब राष्ट्रो और लोगो की आवश्यकता और आकाक्षा है, स्थापित होने जा रही है। ४ दिसम्बर सन् १९१७ को प्रेसीडेन्ट विल्सन ने अमरीका की सीनेट और हाउस के सयुक्त अधिवेशन में भाषण करते हुए कहा—"जब जर्मनी की जनता को ऐसे प्रतिनिधि प्राप्त हो जायेंगे जिनके शब्दो पर हम विश्वास कर सकें और जब वे प्रतिनिधि अपनी जनता की ओर से राष्ट्रो के सर्व-सम्मत न्याय को स्वीकार करने के लिए तैय्यार हो जायेंगे कि ससार के जीवन के सविद और विधान के आधार क्या हो—तब हम शान्ति का पूरा-पूरा मूल्य प्रसन्नता के साथ, बिना किसी हिच-किचाहट के अदा करने को तैयार होगे। हम जानते है कि वह मूल्य क्या होगा। वह मूल्य होगा पूर्ण और निष्पक्ष न्याय—न्याय जो हर स्थान पर और हर राष्ट्र के साथ किया जायगा अन्तिम समझौता या निर्णय हमारे शत्रुओ और मित्रो पर एक समान लागू होगा।" उसी भाषण में उन्होने स्पष्ट रूप से कहा था—"हम जर्मन-साम्राज्य के साथ कोई

अन्याय नही करना चाहते, उसके आन्तरिक मामलो में कोई हस्तक्षेप नही करना चाहते। इन दोनो में से किसी एक भी बात को हम नितान्त अन्यायपूर्ण समझते है, जिस सिद्धान्त को हमने अपने जीवन का लक्ष्य घोषित किया है और एक राष्ट्र के रूप में जिसे हम अपने समूचे जीवन में सर्वाधिक पवित्र मानते है, उसके नितान्त विरुद्ध यह बात होगी।" जर्मन लोगो की आशायें राष्ट्रपति विलसन के ८ जनवरी सन १९१८ के भाषण मे भी पुष्ट हुई जिसमें उन्होने अपनी चौदह शर्तें रक्खी जिनको जर्मन लोगो ने शान्ति-समझौते की बातो का आधार स्वीकार कर लिया। लेकिन विजय के बाद जो अवधि बीती है उसने शान्ति का वातावरण नही उत्पन्न किया। उसने विभेदो और संघर्षो के कारणो को बढ़ाया ही है।

पिछले युद्ध के अन्त मे जर्मनी को दुर्बल बना दिया गया, उसका अपमान किया गया। विश्व-युद्ध का समूचा उत्तरदायित्व और पाप अंगीकार करने के लिए उसे विवश किया गया। जर्मन नौसेना को सागर के अतल गर्भ में डुबो दिया गया और उसकी सेना को घटा कर एक करोड़ आदमियो की पुलिस बना दिया गया। सार्वजनिक निःशस्त्रीकरण का वायदा करके उसे निश्शस्त्र बना दिया गया, यद्यपि योरोप के किसी भी बड़े राष्ट्र का निःशस्त्रीकरण का तनिक भी मंशा न था। क्षति-पूर्ति के लिए अत्यन्त असंगत आर्थिक माँगे उस पर लादी गई जिनसे न केवल युद्ध में भाग लेने वाली पीढी बल्कि आगे आने वाली दो-दो पीढियाँ तक दास और गुलाम बना दी गई। सर ऍरिकगेडेस के शब्दो में "हम ने जर्मनी को तब तक चूसा जब तक वह चीत्कार न कर उठा। जर्मनी को छोटे-छोटे राष्ट्रो के जाल से घेर दिया गया, राष्ट्र-संघ के तत्वावधान में सार प्रान्त को एक स्वतंत्र राज्य बना दिया गया,

राईनलैण्ड पर अधिकार कर लिया गया और रूर पर आक्रमण किया गया। यह सब इस सिद्धान्त पर किया गया कि शक्ति ही सत्य है, न्याय है। जर्मनी को योरोप के बीच में एक सत्रस्त भयानक जन्तु के रूप में छोड दिया गया जो विक्षत, बुभुक्ष, क्रुद्ध और बद्ध होने के कारण और भी अधिक भयानक हो उठा था। कोई भी आत्म-सम्मान पूर्ण राष्ट्र इस प्रकार का व्यवहार किये जाने पर निराशा के गम्भीर गर्त में गिर जाता और हिटलर तथा नाजीवाद की विनाशकारी शक्ति को अपना लेता जिसकी घोषणा है कि "वर्तमान अवस्था से कोई भी दूसरी अवस्था अच्छी है।"

जर्मनी के साथ हुई इस बुरी सधि के बावजूद भी लोगो को आशा थी कि राष्ट्र सघ, जो वार्साई की सन्धि के एक अँग रूप में प्रतिष्ठित हुआ था, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का उत्थान करेगा और राष्ट्रो के पारस्परिक झगडो को प्रबोधन, पारस्परिक बातचीत व समझौता तथा मध्यस्थता के उपायो से हल करने का प्रोत्साहन देगा, लेकिन यह आशाये पूरी नही हुई। जब राष्ट्र-सघ की स्थापना हुई तब उस पर ब्रिटेन और फ्रास का नियत्रण था। सयुक्त-राष्ट्र अमेरीका जर्मनी और रूस उससे बाहर थे और मुसोलिनी का इटली यद्यपि राष्ट्र-सघ का एक सदस्य था फिर भी उसे सघ के सिद्धान्तो पर विश्वास न था और वह शान्ति को घृणा की दृष्टि से देखता था जिसकी स्थापना का प्रयत्न सघ कर रहा था। यद्यपि अन्त में राष्ट्र-सघ मे ५० से अधिक राष्ट्र सदस्य हो गये फिर भी उसकी शक्ति ब्रिटेन और फ्रास के ही हाथो मे रही। बाद की घटनाओ से यह स्पष्ट हो गया है कि दोनो की एक सामान्य नीति नही थी। नि शस्त्रीकरण सम्मेलन भग हो गया क्योकि फ्रास, जो युद्ध के समय से एक राष्ट्रीय भयोद्वेग की स्थिति में था, इस बात पर

डटा था कि सुरक्षा को नि शस्त्रीकरण पर वरण्यता मिलनी चाहिए और ब्रिटेन यह मानता था कि विना निस्शस्त्रीकरण के सुरक्षा असम्भव है। अनेक सधियाँ की गई जिनमें राष्ट्र-सघ से परामर्श तक नही किया गया, उससे कोई सम्पर्क नही रक्खा गया, जैसे सन् १६३५ में इगलैड और जर्मनी का नौ-सैनिक समझौता और रूस, चेकोस्लोवाकिया और पोलैड के साथ फ्रास की सधियाँ।

यदि जर्मनी में सरल, स्वस्थ, सवल और अच्छे नवयुवको तथा नवयुवतियो को घातक आज्ञाकारिता की मोहक दीक्षा दी जाती है, यदि उन्हें अपने योरोपीय पडोसियो को कुचलने और उन्हें अपने अधीन करने की अन्ध-प्रेरणा दी जाती है तो निस्सन्देह, यह सव अनुचित है। लेकिन यह सव समझ में न आने वाली वात किसी प्रकार नही कही जा सकती। धुरी-युग के पहले फ्रास और ब्रिटेन ने जर्मन समस्या का सचालन वहुत वुरे ढग से किया। श्री ब्रूम लॉक हार्ट से श्री स्ट्रेसमैन ने जो शिकायत पश्चिमी राष्ट्रो—विशेप कर ब्रिटेन—के विरुद्ध की थी उससे सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। उन्होने कहा कि अस्सी प्रति शत जर्मन जनता को वह अपनी नीति के पक्ष में ले आये हैं। अपने देश को उन्होने राष्ट्र-सघ में सम्मिलित करा दिया है। लोकार्नो सधि-पत्र पर उन्होने हस्ताक्षर कर दिये हैं। वह देते गये, देते गये, देते गये जव तक उनके देशवासी उनके विरुद्ध न हो गये। "अगर आपने मेरे साथ एक भी रियायत की होती तो मैं अपने देश वासियो को अपने साथ ले चलता। मैं आज भी ऐसा कर सकता था। लेकिन आपने कुछ नही दिया और जो कुछ नगण्य रियायतें आपने की वह भी समय वीत जाने पर वहुत देर वाद। खैर अव तो कुछ शेप रहा नही, अकेले पाशव शक्ति को छोड कर। भविष्य तो नयी पीढी के हाथ में है, जर्मनी के उन

युवको के हाथ में है जो शान्ति और नवीन योरोप के निर्माण के लिए जीते जा सकते थे, हमने दोनो को ही खो दिया है। यही मेरा दुरन्त है और यही आप का पाप।"[१]

जहाँ तक इटली का सम्बन्ध है, यद्यपि अबीसिनिया ने सन् १९३५ के प्रारम्भ में ही इटली के रवैय्ये के विरुद्ध राष्ट्र-सघ में शिकायत भेज दी थी फिर भी अप्रैल (१९३५) में होने वाले स्ट्रेसा-सम्मेलन में ब्रिटेन, फ्रास और इटली के प्रधान-मत्री और विदेश-मत्री योरोप की परिस्थिति और जर्मनी के पुन शस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए जब इकट्ठे हुए तो बडी सावधानी से उन्होने अबीसिनिया के मसलो को छुआ तक नही, शायद इस आधार पर कि अबीसिनिया ने राष्ट्र सघ से अपील की है और इसलिए उसे उसी के निर्णय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। मुसोलिनी जब स्ट्रेसा से रवाना हुए तो इस विश्वास के साथ कि अबीसीनिया में वह अपना मन चाहा कर सकते है और फ्रास अथवा ब्रिटेन से डरने को कोई खास बात नही है।[२] सितम्बर सन् १९३५ के राष्ट्र-सघ के सम्मेलन में, जब कि इटली अबीसिनिया पर आक्रमण करने वाला ही था, ब्रिटेन के विदेश मत्री सर सैमुएल होर ने कहा था—"यह

---

[१] New Statesman and Nation, March 29, 1941

[२] श्री एमरी जैसे विशिष्ट अग्रेज ने सन् १९३६ में यह अर्थ-गर्भित शब्द लिखे थे "इतिहास में मुसोलिनी का दावा राजनीति-शास्त्र के मूल तत्वो के मौलिक विचारक के रूप मे होगा, एक महान् देशभक्त के रूप मे, एक चतुर दूरदर्शी राष्ट्र-निर्माता और एक प्रशसनीय प्रशासक के रूप में होगा उन्होने इटली को एक विश्वास-पूर्ण कर्मोद्योग, सफलता के आनन्द, उत्सुक सहयोग और परिश्रमी पुरुषत्व के एक नवीन स्तर पर उठा दिया है।"—The Forward View.

राष्ट्र-सघ और इसके साथ मेरा देश सघ-समझौते को उसकी पूर्णता में सुरक्षित रखने के पक्ष में है और विशेष कर अकारण किये जाने वाले आक्रमण के दृढ और सामूहिक प्रतिरोध के हम पक्ष में है।" कुछ ही महीनो बाद सम्राट् की सरकार की ओर से बोलते हुए सर जान साइमन ने हाउस आफ कामन्स में कहा—"मै इस बात के लिए तैयार नही हूँ कि अबीसिनिया की स्वतत्रता के लिए होने वाले समुद्री युद्ध में मै अपना एक भी जहाज डूबता हुआ देखूँ, भले ही वह युद्ध सफल ही क्यो न हो।" शस्त्रो से फिर सुसज्जित होते हुए जर्मनी के खतरे से फ्रास स्वभावत भयभीत था और अबीसिनिया की रक्षा के लिए इटली से झगडा मोल लेने को तैयार न था। यद्यपि राष्ट्र सघ ने मुसोलिनी को आक्रामक घोषित किया और अक्तूबर सन् १९३६ में उसके विरुद्ध आदेश भी जारी किये फिर भी फ्रास ने होर-लावाल प्रस्तावो का समर्थन किया। इस अशान्ति-काल में हिटलर ने स्थिति से लाभ उठाया और राइनलैण्ड पर फिर से अधिकार कर लिया। इसी समय अबीसिनिया जीत लिया गया, इटली के विरुद्ध आदेश वापस ले लिये गये, राष्ट्र-सघ पर से विश्वास समाप्त हो गया। ससार के छोटे और दलित राष्ट्रो को गम्भीर निरुत्साह हुआ। इस घटना पर लार्ड मेसिन की टिप्पणी यह है "आक्रमण के विरुद्ध होने वाली कार्रवाई का प्रारम्भ से इतना शक्तिहीन होना और बाद में उसका ठप्प हो जाना इस कारण नही था कि इटली के विरुद्ध होने वाली राष्ट्र-सघ की कार्यवाही से हमारे (ब्रिटेन) या फ्रास के लिए कोई घातक परिणामो का तर्क सगत भय था। यह तो उस दृष्टिकोण का परिणाम था जो उस समय फ्रास मे बहुत जोर-शोर से और ब्रिटेन में निश्चित रूप से, यद्यपि प्रगट रूप से नही, स्वीकृत था,

यह कि जब तक स्वय अपने राष्ट्रीय भू-प्रदेश या राष्ट्रीय व्यापार के किसी अशको खतरा न हो तब तक युद्ध को, आवश्यकता पडने पर, शक्ति से भी रोकने का दायित्व अपना सर्वोच्च स्वार्थ और कर्तव्य मान बैठना एक आदर्शवादी मूर्खता है और ऐसा कोई काम किया नही जाना चाहिए।"[1]

जहाँ तक तीसरे धुरी-राष्ट्र जापान का सम्बन्ध है, १९३१ से ही वह समझने लगा था कि उसकी महत्त्वाकाक्षाओ में हस्तक्षेप करने की शक्ति राष्ट्र-सघ में नही है। यह तो केवल एक ऐसा यत्र था जिसे विजयी राष्ट्रो ने अपनी शक्ति-परक गुटबन्दी की सुकरता के लिए स्थापित किया था। इटली ने सन् १९२३ मे उसका उल्लघन किया, कारफू पर बमबाजी की और अल्बानिया में कुछ इटालियन अधिकारियो की हत्या के बदले यूनान से क्षति-पूर्ति की माँग की। जब १८ सितम्बर सन् १९३१ को जापान ने मचूरिया पर आक्रमण किया तो २१ सितम्बर १९३१ को चीन ने राष्ट्र-सघ की सविदा की ग्यारहवी धारा के अनुसार राष्ट्र-सघ मे अपील की। जापान ने तर्क किया कि मचूरिया की समस्या का हल चीन और जापान के बीच की बात है और दूसरो से उसका मतलब नही। समस्या को एक मध्यस्थ के हाथ सौप देने का चीनी प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। २५ जनवरी सन् १९३२ को चीन ने फिर नई अपील की, यह अपील दसवी धारा के अन्तर्गत की गई जिसके अनुसार सदस्य राष्ट्रो को प्रादेशिक-अखण्डता की प्रत्याभूति दी गई है, और पन्द्रहवी धारा के अन्तर्गत भी, जो बारहवी धारा से अधिक सबल और सटीक है क्योकि इसके विषयो की पूर्ति न होने पर धारा

---

[1] A Great Experiment, p 271

सोलह के आदेश लागू हो जाते है। जब चीन के प्रतिनिधि ने राष्ट्र-संघ से अपील की तो अमेरिका के पर-राष्ट्र सचिव श्री स्टिम्सन ने राष्ट्र-संघ द्वारा कार्यवाही किये जाने का समर्थन करने का वचन दिया। जनवरी सन् १९३२ मे संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका ने घोषणा की कि वह ऐसी किसी व्यवस्था को मान्यता नही देगा जो शक्ति के द्वारा दूसरो पर लादी गई हो।[1] ब्रिटेन के विदेश-मन्त्रालय ने एक दूसरा ही राग अलापा। जनेवा मे पत्रकारो के बीच इगलैण्ड की नीति स्पष्ट करते हुए सर जान साइमन ने घोषणा की—"जापान को फैलने को—विस्तार की आवश्यकता है, जापान आज वही कर रहा है जो ग्रेट ब्रिटेन ने अतीत में किया था, और राष्ट्र संघ की संविदा में कठिनाई यह है कि उसमें इतिहास की ऐसी गतिशील शक्तियो को यथेष्ट सुविधा नही दी गई जैसी शक्ति हमको भारत में ले गई थी और आज जापान को मचूरिया में ले जा रही है।"[2] जापान स्थित अग्रेजी राजदूत ने कहा था—"मचूरिया में जापानियो ने जो कार्यवाइयाँ की उनके लिए उन्हें बहुत अधिक उत्तेजना दी गई थी। उन्होने रूसियो को भगाया था और इस प्रकार अपने लिए अधिकार प्राप्त कर लिये थे, और जिस ढग से चीनी लोग उनके अधिकारो की प्रतिष्ठा समाप्त करते जा रहे थे उससे उनकी

---

[1] जब संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से कहा गया कि वह कोई ऐसी कार्यवाही करे जो जापानी आक्रमण को रोक दे तो उन्होने लिखा—"हमारी जनता के अधिकाश के लिए मचूरिया धरती का एक अज्ञात भाग है और वे नही समझ पाते कि उस भाग में होनेवाले विवाद से उनका क्या सम्बन्ध है।" ब्रिटेन के एक स्कूली छात्र ने कहा था कि चीन की राजधानी जापान है।

[2] Vigilantes Inquest on Peace (1935) p 34.

शान्ति और सहनशीलता समाप्त हो गई।"[1] लायोनल कार्टिस जैसे तटस्थ निरीक्षक भी रूस के काल्पनिक भय से मार्ग-भ्रष्ट हो गये और लिखा—"पूर्व मे जो विभीषिका हमें सत्रस्त किये है वह जापान का भय नही है बल्कि चीन का भय है।[2] अधिक-से-अधिक राष्ट्र-सघ की समिति जो कर सकी वह यह था कि उसने जापान को यह स्पष्ट रूप से बता दिया (१६—२—१९३२) कि राष्ट्र-सघ के सदस्य अपने एक सदस्य राष्ट्र की प्रादेशिक अखण्डता पर राष्ट्र-सघ को सविदा द्वारा निर्धारित दायित्वो की अवहेलना करते हुए जो भी अतिक्रमण किये जायँगे उनको मान्यता नही देंगे। मार्च सन् १९३२ में राष्ट्र-सघ की असेम्बली या आम-सभा ने एक अमान्यता का प्रस्ताव पास किया जिसका अर्थ था ससार के सभ्य राष्ट्रो द्वारा जापान के आक्रमण की नैतिक आधार पर निन्दा करना। लेकिन उस प्रस्ताव ने आक्रमणकारी को आक्रमण के फलो से वचित नही किया। १९३१ मे युद्ध चाहे जितना कष्टदायक होता लेकिन प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रो को उस समय १९३९ की अपेक्षा कम तैयार या अधिक पूर्व-व्यस्त स्थिति में न पाता। यदि भविष्य की महान्तर आपदाओ का निवारण करना है तो वर्तमान छोटी-छोटी बुराइयो का सामना करना ही होगा। यदि धरती के एक भाग पर हम स्वेच्छाचार बर्दाश्त करते है तो दूसरे भाग पर उससे भी अधिक अत्याचार उत्पन्न होगा। जापान ने राष्ट्र सघ से इस्तीफा दे दिया और मचूरिया की विजय-यात्रा में आगे बढते हुए उसने जेहोल और मगोलिया के दो भीतरी प्रान्तो—चाहार और सुइयुआन—पर भी

[1] Curtis The Capital Question of China (1932) p 25

[2] Ibid p 299

अधिकार कर लिया। राष्ट्र-सघ की अकर्मण्यता और सघ का नियत्रण करनेवाली बडी-बडी शक्तियो की उदासीनता तथा नाजी जर्मनी के उत्थान और अबीसिनिया पर किये गये इटली के आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्र-सघ के प्रतिबन्धादेशो की शोचनीय असफलता मे उत्साहित होकर जापान ने जुलाई सन् १९३७ में चीन पर फिर से आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। २२ मई सन् १९३९ को चीन के प्रतिनिधि डाक्टर वेलिंगटन-कू ने चीन को प्रभावपूर्ण सहायता देने की अपील की—आर्थिक सहायता, और जापान को युद्ध-सामाग्री न देने, शरणार्थियो को सहायता देने तथा राष्ट्र-सघ की शपथो को पूरा करने की प्रार्थना की। पर अपने फ्रान्सीसी सहयोगी जार्ज बॉनेट के साथ लार्ड हैलीफैक्स ने राष्ट्र मघ की सामूहिक सहायता सगठित करने का एक अनुपम सुयोग खो दिया।[1] यद्यपि अमेरिका और ब्रिटेन दोनो ने ही १९२२ मे वाशिंगटन में होने

---

[1] उसी दिन जनेवा मे "आक्रामक-विरोधी मोर्चे को पूर्वीय देशो तक विस्तृत करने के चीनी प्रस्ताव को ब्रिटेन और फ्रास ने अपने निषेधाधिकार से रद्द कर दिया। सोवियत, न्यूजीलैण्ड और बोलीविया के प्रतिनिधियो ने डाक्टर कू की प्रार्थनाओ का समर्थन किया किन्तु ब्रिटेन व फ्रास के विदेश मत्रियो ने बार-बार—जब कभी सोवियत विदेश मत्री ने उनसे अपनी असहमति प्रगट की—इन प्रार्थनाओ का डटकर विरोध किया। डाक्टर कू के तर्कों का विरोध लार्ड हेलीफैक्स और श्री बानेट ने किया। उनके विरोध ने इस योजना को वस्तुत समाप्त कर दिया। एम मैस्की ने कहा कि सारी दुनियां में यह विश्वास बढता जा रहा है कि आक्रमण के विरुद्ध दृढ प्रतिरोध एक ऐसा युद्ध है जो एक व्यापक युद्ध का निवारण करता है। "यह सिद्धान्त चीन पर भी पूरी तरह से लागू होता है," उन्होने कहा था।

वाली नवराष्ट्र-सधि[1] पर हस्ताक्षर किये थे, फिर भी दोनो ने जापान के अकारण और नीच आक्रमण को रोकने के लिए कोई भी कदम उठाने से इन्कार कर दिया। दूसरी ओर ग्रेट ब्रिटेन ने जापान की यह माँग स्वीकार कर ली कि बर्मारोड से जो कुछ युद्ध-सामग्री चीन पहुँचती थी उसका वहाँ पहुँचना बन्द कर दिया जाय, यद्यपि यह बन्दी तीन ही महीने के लिए जुलाई से अक्टूबर १९४० तक रही। ब्रिटेन ने यह कार्यवाही नवराष्ट्र-सधि का उल्लघन करके की और जनेवा मे अपने दिये हुए इस गम्भीर वचन को भग किया कि "वह ऐसा कोई काम न करेगा जिससे चीन की प्रतिरोध-शक्ति में किसी प्रकार की कमी आये।" और फिर भी मिस्टर चर्चिल ने बर्मा-रोड की इस बन्दी को एक शान्तिपूर्ण कार्य कहकर उसका समर्थन किया जिसका उद्देश्य चीन-जापान-युद्ध का अन्त "समझौते के द्वारा न कि युद्ध या युद्ध की धमकी के द्वारा" समीप लाना था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ होता कि चीन का एक प्रभाव-पूर्ण अवरोध हो जाता जिसका परिणाम होता समर्पण। आज तो अग्रेज भी परमात्मा को धन्यवाद देते है कि उनकी यह आशाये पूरी न हुई। महान् शक्तियो ने तोपक नीति का अनुगमन किया और सब प्रकार के हथियार, तेल, रबड, खण्ड लौह, कच्चा लोहा और अल्मोनियम जापान के हाथ बेचा। यह तो ७ दिसम्बर सन् १९४१ में हुआ पर्ल बन्दरगाह पर जापान का हमला था जिसने सयुक्त-राष्ट्र अमरीका और ग्रेट-ब्रिटेन को चीन के साथ ला खडा किया जो लगभग साढे चार वर्ष से सभ्यता और विश्व-व्यवस्था का युद्ध लडता आ रहा था। तभी

---

[1] वाशिंगटन सम्मेलन में सम्मिलित राष्ट्रो ने वचन दिया था कि वे 'चीन की प्रभुसत्ता, उसकी प्रादेशिक और प्रशासकीय अखण्डता' स्वीकार करेगे।

तो सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका की एकान्त तटस्थता की गहरी परम्परा भग हुई। जैसे ही जापान ने ग्रेट ब्रिटेन और सयुक्त राष्ट्र अमेरिका पर हमला किया वैसे ही चीन ने एक दूरदर्शी स्पष्ट-दृष्टि से धुरी-राष्ट्रो के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

फासीवादी राष्ट्रो ने सहायता और समर्थन पानेवाले विद्रोहियो के विरुद्ध स्पेन की वैधानिक सरकार की रक्षा करने में राष्ट्रसघ असमर्थ रहा। जब चेकोस्लोवाकिया में सकट उत्पन्न हुआ तब मिस्टर चेम्बरलेन ने पूर्ण सदुद्देश्य से काम किया। वह शान्ति-प्रेमी थे और शान्ति-प्रेमी होना कोई बुरी बात नही है। ब्रिटेन की तैयारियो की कमी वह जानते थे। उन्होने लार्ड रन्सोमैन को भेजा कि वह जाकर चेक लोगो और जर्मन लोगो के झगडे का निपटारा करने की कोशिश करें, उन्होने चेक लोगो को यह प्रबोध दिया कि वह सुडटन प्रदेश जर्मनी को दे देना स्वीकार कर लें और दूसरे प्रदेशो में छोटे-छोटे सैन्य शिविरो का निर्माण कर लें। चेक लोगो ने 'ब्रिटेन और फ्रास के दुर्निवार दबाव' के कारण यह स्वीकार कर लिया। इस प्रकार म्यूनिक में प्रतिष्ठा बेचकर समय खरीदा गया। इस घटना का दु खद भाग तो वह सनकी-पन है जिसके साथ मिस्टर नेवाइल चेम्बरलेन ने २७ सितम्बर सन् १९३८ के अपने रेडियो भाषण में कहा था—"एक शक्तिमान पडोसी के मुकाबिले में आ पडे एक छोटे राष्ट्र के साथ हम सहानुभूति चाहे जितनी दिखायें पर केवल उसी के लिए हम हर परिस्थिति में समूचे ब्रिटिश साम्राज्य को युद्ध मे फँसा देने का काम नही कर सकते। यदि हमें लडना ही है तो इससे बडे प्रश्नो को लेकर लडना चाहिए।" राष्ट्र-सघ के सुविचारित न्याय से जिन शक्तियो को 'आक्रामक' घोषित किया जा चुका था उनके प्रति तोषक नीति राजनीतिक कारणो

की अपेक्षा सैनिक आवश्यकताओ से अधिक प्रेरित थी। सरकारो को यह निश्चित करना होता है कि वे सफलतापूर्वक युद्ध सचालित कर सकती है या नही, और यदि नही कर सकती तो उन्हें समझौते करने होते है और सामरिक आवश्यकताओ के साथ राजनीतिक आदर्शो का मेल बैठाना होता है। लेकिन आदर्शो को एकदम त्याग देना बुद्धिमानी नही है।

म्यूनिक समझौते के समय रूस की उपेक्षा की गई और कुछ ऐसा प्रभाव उत्पन्न किया गया कि पश्चिमी राष्ट्र जर्मनी के साथ कामिन्टर्न-विरोधी समझौता करने की सोच रहे है। श्री नेवाइल हेन्डर्सन के सस्मरणो—'दि फेल्योर आफ ए मिशन'—से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह धारणा बिल्कुल काल्पनिक नही थी। तोवण एक ऐसा खेल है जिसे दो पक्ष खेल सकते है। सो सोवियत रूस जर्मनी के साथ एक अनाक्रमण-सधि करने मे सफल हो गया। ऐसा उसने अपनी सुरक्षा के हित में किया। वह समय चाहता था, अपनी लाल फौज को तैयार करने के लिए और जर्मन शत्रु से मुकाबला करने के लिए। रूस जब तक वह और अच्छी स्थिति म न आ जाय तब तक युद्ध टालना चाहता था।

वे 'बडे-बडे प्रश्न' क्या है जो ब्रिटेन द्वारा सशस्त्र हस्तक्षेप को उचित सिद्ध करते है? मिस्टर चेम्बरलेन का उत्तर है—"यदि मुझे इस बात का विश्वास हो जाय कि कोई राष्ट्र अपनी शक्ति से भयभीत करके ससार पर अधिकार जमाने का सकल्प कर बैठा है तो मै समझूंगा कि उसका प्रतिरोध किया जाना चाहिए।" दूसरे शब्दो में यदि ससार मे ब्रिटेन की शक्ति को चुनौती दी जाती है तो वह इस चुनौती देनेवाली शक्ति के विरुद्ध अपनी पूरी ताकत लगा देगा। 'सभ्यता के लिए युद्ध' 'छोटे

राष्ट्रो की सुरक्षा' और शक्ति सतुलन की भी सारी बकवाद स्वार्थ और आत्मरक्षण के सक्रिय उद्देश्य को छिपाने का एक झूठा आवरण मात्र है। हम लडेगे केवल अपने शत्रुओ को कुचलने के लिए और अपने गर्व को शान्त करने के लिए। यह राष्ट्रीय अहमन्यता का सिद्धान्त ग्रेट ब्रिटेन की कोई अपनी विशेषता नही है। सयुक्तराष्ट्र अमेरिका इस युद्ध में तभी सम्मिलित हुआ जब पर्ल बन्दरगाह पर हमला हो गया। वह ससार की शान्ति-रक्षा के लिए युद्ध में नही सम्मिलित हुआ, वह सम्मिलित इसलिए हुआ कि उसके भू-प्रदेश पर प्रत्यक्ष आक्रमण हुआ, उसके स्वार्थों के लिए सकट उत्पन्न हुआ और उसके गर्व को चोट लगी।

जिन लाखो व्यक्तियो ने स्वेच्छापूर्वक यातनायें और पीडायें सहना स्वीकार कर लिया था और जिन्होने अपने प्राण भी दे दिये थे---इस विश्वास में कि यह ससार प्रजातन्त्र और मानव-भावना के लिए सुरक्षित हो जायगा, उन सबकी आशायें दोनो युद्धो के बीच की अवधि मे चूर-चूर हो गई और हम शान्ति खो बैठे। आग की लपटो से तो हम निकल आये किन्तु धुये में विलीन हो गये। इन २० वर्षो से हमने यह सबक सीखा है कि सभी देशो मे राष्ट्रीय देश-भक्ति की भावना बडी सबल और गहरी है और विश्व साम्य या ऐक्य की भावना दुर्बल और मन्द। अपने प्रधान सदस्यो, ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रास के साथ राष्ट्र-सघ ने चीन को जापान की कृपा के भरोसे छोड दिया, अबीसीनिया को इटली के लिए बलिदान कर दिया, मुसीबत की घडी में चेकोस्लोवाकिया को धोखा दिया और धुरी-राष्ट्रो को शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने में अनवरत सहायता दी।[1] अपनी दृढ आस्थाओ के होते हुए भी राष्ट्रसघ

---

[1] १५ जनवरी सन् १९४४ के 'नेशन एन्ड न्यू स्टेट्समैन' में सैगीटैरियस ने राष्ट्रपति रूजवेल्ट के इस सुझाव पर कि भविष्य में राष्ट्रसघ की

अपने प्रस्तावो और सकल्पो के लागू करने मे असमर्थ रहा। यदि उसे प्रभावपूर्ण होना है तो उसकी स्थिति ऐसी होनी ही चाहिए कि सैनिक चुनौतियोका उत्तर वह सैनिक कार्यवाइयोसे दे सके। (१) इसके अतिरिक्त राष्ट्रसघ ने प्राचीन औपनिवेशिक साम्राज्यो को नवीन नामो से बनाये रखने की कोशिश की। उसने पूर्व की जातियो और उनके स्वाधीनता-सग्रामो की ओर ध्यान ही नही दिया।[१] युद्ध का तात्कालिक उद्देश्य है शत्रु

बैठको के लिए जेनेवा को न चुना जाय क्योकि उस शहर पर 'असफलता की छाया' छाई है, निम्नलिखित टिप्पणी लिखी थी--

'जब बलि के बकरो की आहें—
राष्ट्रो के अभियोग कान में पहुँचे
तब काउंसिल ने जल मँगवाया
आम-सभा ने हाथ धो लिए--दाग मिट गया।
मचूको, स्पेन, कार्फू, अबीसोनिया,
विलना औ यूनान,
माफ न यह बलिदान!--
माफ न होगे!! क्योकि जानते थे बलि कर्त्ता
अपना कुत्सित काम और उसका मतलब भी।

[१] "पूर्व में जापान योरुपीय 'प्रजातन्त्र' के कुछ चिह्न देख सकता था। ऐसा लगता था कि यह एक विशेषाधिकार है जिसने श्वेतागो को रगीन लोगो का मालिक बना रखा है। समृद्ध ईस्ट इडोज में, जिसका आकार जापान से तीन गुना है, कुछ हजार डच लोग छै करोड अर्धबुभुक्षु स्थानीय लोगो के श्रम और साधनो के बूते सम्पत्ति पैदा कर रहे थे। इण्डोचीन मे (जो जापान से बडा है) कुछ हजार फ्रासीसी वहाँ की जनता से जिसे उन्होने चीन से अलग कर रखा था विपुल राजस्व चूस रहे थे। जापान ने यह भी देखा कि कुछ हजार अंग्रेज सज्जन बिलोचिस्तान से लेकर दक्षिणी सागर तक के विशाल भू-प्रदेशो पर उपनिवेशो सा शासन करते हुए सम्पत्ति लूट रहे थे।

को पराजित करना, लेकिन जब तक हमारे पास एक प्रेरणादायक लक्ष्य ---भविष्य का चित्र न हो जिसके लिए हम युद्ध कर रहे है, तब तक हम शत्रु को कुचल नही सकते, युद्ध जीत नही सकते। यह कहने से काम नही चलेगा---"आओ शत्रु को कुचल दें और शेष सारी बाते दैव या भाग्य के ऊपर छोड दे," क्योकि यह तो उस साधारण-मानव को धोखा देना होगा, जिसकी वीरता और सहनशक्ति, जिसकी यातना और मृत्यु के बूते विजय प्राप्त की जा रही है। विजेताओ को प्रेरणा देनेवाला एक सामान्य उद्देश्य होना ही चाहिए। सर्वत्र स्त्री-पुरुष सभी बलिदान की भावना मे भरे है और तात्विक परिवर्तनो के लिए तैयार है। यही विश्वास उन्हें जीवन का बल दे रहा है कि विश्व का नव-निर्माण होगा, कि मानव इतिहास मे महान्-क्रान्ति होगी और सामान्य व्यक्ति को भय और दीनता से मुक्ति मिलेगी। यही आशा आज धरती के इस छोर से उस छोर तक छाई हुई है, और मित्र-राष्ट्रो के नेताओ के वक्तव्यो से इस आशा को नवीन बल और दृढता मिलती जाती है। हमारे सामने अतलान्तक घोषणापत्र है, राष्ट्रपति रूजवेल्ट की चार स्वाधीनताओ की घोषणा है और सोवियत की २५वी वर्षगाँठ के अवसर पर की गई मार्शल स्तालिन की घोषणा है---"जातीय बहिष्कार-वृत्ति का उन्मूलन, राष्ट्रो की समानता और उनकी प्रादेशिक अखण्डता, गुलाम बनाई गई

और सबसे अधिक जापान के शासको ने यह देखा कि पूर्व का वैभव और उसकी सम्पत्ति हिसा और शक्ति के बल छीनी गई और शक्ति के बल पर ही उसपर आधिपत्य जमा हुआ है---पर वह एक शक्तिशाली और निशक शक्ति की चोटो के लिए अगम्य ता नही था।"---Scorched Earth, by Edgar Snow (1941) p 364.

जातियो की मुक्ति और उनकी प्रभु-सत्ता की पुन प्रतिष्ठा, प्रत्येक राष्ट्र का यह अधिकार कि वह अपने ममलो की व्यवस्था अपनी इच्छाओ के अनुकूल करें, क्षति-ग्रस्त राष्ट्रो को आर्थिक सहायता और अपनी भौतिक कल्याण-सिद्धि में उनको योगदान, प्रजातन्त्रीय स्वाधीनताओ की पुन प्रतिष्ठा, हिटलरी शासन का विनाश।” हावर्ड विश्वविद्यालय मे ६ सितम्बर १९४३ को भाषण देते हुए श्री चर्चिल ने कहा था—“हमे आगे बढते ही जाना चाहिए। दो में एक ही रहेगा या तो विश्व-व्यापी अराजकता और या फिर विश्व-व्यवस्था। अत्याचार हमारा शत्रु है वह चाहे जिस छद्मवेश में हो, चाहे जो जाल बिछाये। वह चाहे जो भाषा बोले, वह चाहे वाह्य हो या आन्तरिक, हमे हर क्षण सावधान रहना चाहिए, हर क्षण सन्नद्ध और सतर्क, हर समय उसका गला दबोचने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए।” राष्ट्रपति फ्रैन्क्लिन डी० रूजवेल्ट ने अभी हाल ही में कहा था—“जिस उद्देश्य के लिए हम यह युद्ध लडे हैं वही यदि खो जाता है तो इन युद्धो का जीतना व्यर्थ है। यदि विजय स्थायी न रहे तो युद्ध का जीतना बेकार है हम एक ऐसी विजय-प्राप्ति के लिए एक सूत्र में बँधे हुए हैं जो हमें यह प्रत्याभूति दे सके कि हमारी भविष्य की सन्ततियाँ आक्रमण, विनाश, दासता और आकस्मिक मृत्यु के निरन्तर भय से मुक्त रह कर बढ सकेंगी और परमात्मा की छाया में अपना जीवन जी सकेगी।” डाक्टर सनयात सेन के कथन, “क्रान्ति अभी भी सिद्ध नही हुई” पर टीका करते हुए महाबलाधिकृत च्यागकाई शेक ने कहा था—‘उत्तर यह है कि क्रान्ति से हमारा अर्थ होता है डाक्टर सनयात सेन द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय क्राति के तीन मौलिक सिद्धान्तो की प्राप्ति और पूर्ति। यह सिद्धान्त हैं—राष्ट्रीय स्वाधीनता, प्रजातन्त्र की क्रमिक और अधिकाधिक सिद्धि

और जन-जीवन की परिस्थितियो का स्तर ऊँचा उठाना।' ' सब जातियो की राष्ट्रीय स्वाधीनता पर जोर देते हुए डाक्टर सनयात सेन की दृष्टि चीन की समस्या से वहुत ऊपर उठ जाती है और वह पूर्व तथा पश्चिम के सभी राष्ट्रो के लिए समानता की खोज और माँग करते है। चीन केवल अपनी स्वाधीनता की लडाई नही लड रहा है वल्कि प्रत्येक दलित जाति की आजादी की लडाई लड रहा है। हमारे लिए तो अतलान्तक घोषणा पत्र और राष्ट्रपति रूजवेल्ट की सब राष्ट्रो के लिए चार स्वाधीनताओ की घोषणा हमारे विश्वास के आधार स्तम्भ है। और जब तक हम ईमानदारी के साथ ससार के छोटे-वडे सभी राष्ट्रो के प्रति राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक न्याय को अपना लक्ष्य नही बनाते तब तक हम में से किसी के लिए भी न तो शान्ति होगी और न भविष्य की आशा। स्वय शोषण का शिकार रहने के कारण चीन के हृदय में एशिया की दलित जातियो के प्रति अपार सहानुभूति है और चीन अनुभव करता है कि इन राष्ट्रो के प्रति उसके उत्तरदायित्व ही हैं--अधिकार नही। हम एशिया के नेतृत्व के विचार का प्रत्याख्यान करते है क्योकि 'फ्यूरर-सिद्धान्त' अधिकार और शोषण का ठीक उसी प्रकार समानार्थक रहा है जिस प्रकार 'पूर्वीय एशिया सह समृद्धि क्षेत्र" का अर्थ रहा है एक काल्पनिक अतिमानवो की जाति जो अधीन जातियो को कुचलती हुई उन पर शासन करे। एशिया में पश्चिमी साम्राज्य को हटाकर पूर्वी साम्राज्यवाद स्थापित करने अथवा अपनी या अन्य किसी की एकान्त तटस्थता चीन का उद्देश्य कभी नही रहा। हमारा यह दृढ मत है कि वहिष्कार-मूलक सधियो और प्रादेशिक गुट वन्दियो के सकुचित विचार से हमें आगे वढना ही चाहिए और एक प्रभाव पूर्ण सगठन ससार की एकता के लिए

स्थापित करना चाहिए। इन सधियो और गुट-बन्दियो से और भी वडी और भयानक लडाइयाँ होती है। जब तक एकान्त तटस्थता और साम्राज्यवाद—वह चाहे जिस रूप का हो—को हटाकर स्वतत्र राष्ट्रो के एक नवीन अन्योन्याश्रित ससार में सच्चा विश्व-सहयोग नही स्थापित किया जाता है तब तक हमारे या आपके लिए स्थायी सुरक्षा न हो सकेगी।"

आज हम एक महान् युद्ध के अन्तिम चरणो मे है। विजय की ओर वढते हुए भी ऐसा भय लग रहा है कि हमारे मन युद्ध से उत्पन्न होनेवाली स्वाभाविक क्रूरता, सकीर्णता और लक्ष्य की रुक्षता के सामने झुकते जा रहे हैं। हम जानते है किस तरह कुछ मित्र-राष्ट्रो ने अपने आपको गुप्त सधियो में फँसा लिया था जब कि उडरो विल्सन गत युद्ध के उद्देश्यो के सम्बन्ध में एक विदग्ध वक्तव्य दे रहे थे। ठीक उसी प्रकार वर्तमान युद्ध में अतलान्तक घोषणापत्र और अन्य घोषणाओ पर हस्ताक्षर करनेवाले असदिग्ध शब्दो में उन घोषणाओ से अपनी असहमति प्रगट कर रहे हैं।

इगलैड के प्रधान मत्री ने कहा कि "अतलान्तक घोषणा-पत्र के निर्माताओ के मस्तिष्क में प्रधान रूप से योरुप के उन राज्यो और जातियो की प्रभु-सत्ता, स्वशासन और राष्ट्रीय जीवन की पुन प्रतिष्ठा थी जो नाज़ी आधिपत्य में है" और यह कि उस घोषणा-पत्र की-धाराओ या प्रतिज्ञाओ से "भारत, बर्मा अथवा अग्रेज़ी साम्राज्य के अन्य भागो मे होने वाले वैधानिक शासन के विकास के सम्बन्ध में समय-समय पर दिये गये विविध नीति-विषयक वक्तव्यो पर किसी प्रकार का प्रभाव नही पडता।" इसके साथ यह घोषणा भी जोडिये "हमारा मन्शा अपने अधिकारो पर डटे रहने का है। मै सम्राट्की सरकारका प्रधानमत्री इसलिए नही वना कि

अग्रेजी साम्राज्य के विनाश का अध्यक्ष बनू।" स्वतन्त्र फ्रासीसियो के राजनैतिक उद्देश्यो को स्पष्ट करते हुए जनरल डीगाल ने बताया था कि उन उद्देश्यो में "फ्रासीसी साम्राज्य की पूर्ण अखडता की पुन स्थापना" शामिल है।[1] १९४० में फ्राम द्वारा स्वीकार की गई युद्ध-विराम सन्धि में हिटलर ने फ्रासीसी साम्राज्य की अखडता की प्रत्याभूति दी थी। अन्य साम्राज्यवादी राष्ट्र, जैसे डच, युद्ध के बाद अपनी यथास्थिति की पुनस्थापना की राह जोह रहे है। हमारा धूर्त विवेक हमें इस सुखद धारणा में भरमाता है कि एक दूरस्थ जाति पर अधिकार जमाना जिसकी समूची सभ्यता की पद्धति हमारी सभ्यता से भिन्न है अपने एक नजदीकी पडोसी पर—जिसको हम सदियो से जानते आये है—अधिकार जमाने से भिन्न है। यदि हम युद्ध-पूर्व की अतीत परिस्थितियो मे लौट जाना चाहते है, यदि भविष्य के सम्बन्ध में अपने अधिकार में आये राष्ट्रो पर अपना पजा जमाये रखने की भाषा में सोचते है और अपने विशेषाधिकारो को सुरक्षित रखने, घर में अपनी वर्ग-स्थिति और बाहर अपने अधिकारो को कायम रखने की कामना रखते है, तो यह युद्ध एक पापपूर्ण बर्बादी है, अपव्यय है।

ग्रेट ब्रिटेन इस युद्ध मे इस घोषणा के साथ प्रविष्ट हुआ था कि पोलैंड के साथ हुई अपनी सन्धि पर दृढ रहना, पोलैंड की अखडता और स्वतन्त्रता की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य था। जब जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण किया तो रूस ने उसके पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया। रूस ने अब पोलैंड को नाजी आक्रमणकारियो से मुक्त कर दिया है यद्यपि लन्दन-स्थित पोलैंड की सरकार इस नवीन स्थिति को स्वीकार

---

[1] २४ जून १९४२

नही करती। रूस इस बात को स्वीकार करता है कि उसका एक मात्र उद्देश्य यह है कि पोलैंड सशक्त हो, स्वतंत्र हो और उसका मित्र हो। रूस नही चाहता कि पोलैंड की पूर्वी सीमा के सम्बन्धमे उसकी नीति में दूसरे राष्ट्र हस्तक्षेप करे ठीक वैसे ही जैसे ग्रेट ब्रिटेन अपने साम्राज्यवादी अधिकारो से सम्बन्ध रखन वाले मामलो में दूसरे राष्ट्रो का हस्तक्षेप पसन्द नही करता। यदि मित्र-राष्ट्र अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र में "वर्तमान उत्तरदायित्वो" की पवित्रता पर जोर देते है और ऐसे प्रश्नो को अन्तर्राष्ट्रीय मध्यस्थता से दूर रखना चाहते है जिनकी न्याय्यता सन्देहपूर्ण है, तो निश्चय ही हम लोग समाज के युद्ध-पूर्व वाले ढाचे मे वापस चले जायेगें जिसमें औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धायें होगी और उनके विनाशकारी परिणाम होगे। सोवियत सघ ने यह व्यवस्था दी है कि उसके अग-भूत गणराज्य अपनी स्वतंत्र सेनाये और विदेश कार्यालय रखेगें। कुछ लोग इसका अर्थ यह लगाते है कि इसका उद्देश्य है 'जो भू-प्रदेश १९३८ में सोवियत रूस को प्राप्त नही थे उनके अब सोवियत रूस के साथ सम्मिलन को बाह्य-विश्व द्वारा स्वीकृति' का मार्ग स्पष्ट और सुकर बनाना।[1] यदि यह बात सच हो तो विजय प्राप्त होने के पहले ही हम दूसरे युद्ध के बीज बो देगें।[2]

---

[1] Economist, February 5, 1944.

[2] १० अप्रैल सन् १९४४ को सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के उपराष्ट्रपति श्री हेनरी वैलेस ने लिखा था "युद्धोत्तर विश्व में अनिवार्यत फासीवाद आग्ल सैक्सनी साम्राज्यवाद की तरफ अविरत गति से बढेगा और अन्ततोगत्त्वा रूस से युद्ध की ओर। अभी से अमेरिकी फासीवादी युद्ध के सम्बन्ध में लिख और बोल रहे है। प्राय बडे-बडे व्यवसाय अनजाने फासीवाद को सहायता देते है। बहुत से अग्रेज व्यापारी

संसार की प्रगतिशील शक्तियो को सन्नद्ध किया जाना चाहिए

एक बहुत बडा सकट यह है कि जहाँ युद्ध काल में हम एक नये ससार का निर्माण करने का प्रयत्न करते है वहाँ जैसे ही युद्ध समाप्त होता है वैसे ही पुरानी दुनियाँ की रक्षा करने के लिए जम कर लडाई करते है। पिछले युद्ध के वाद जब विजय प्राप्त हो गई तब श्री टी० ई० लारेन्स का भ्रम बुरी तरह दूर हुआ और उन्होने कहा--"हम लोग उन विचारो में पले जो वाष्प रूप थे और जो व्यक्त नही किये जा सकते थे पर जिनके लिए युद्ध लडा जाना था ' फिर भी जब हमें सफलता मिली और नवीन विश्व का उदय आया तो बुड्ढे लोग सामने आ गये, हमारी विजय उन्होने हम से छीन ली और उसे उन्होने वही पुराना रूप दे दिया जो उनका जाना बूझा था।" यदि युद्ध के इस भयानक अपमान की पुनरावृत्ति से बचना है तो यह आवश्यक है कि हम सतर्क रहे और निश्चय कर लें कि न्याय-पूर्ण समझौते पर आधारित स्थायी शान्ति के लिए जनता के प्रयत्नो को हमारे नेतागण बरबाद न करने

उबल पडेंगे यदि उन्हें फासीवादी कहा जाय। और फिर भी, चुनौतिया देने का खेल शुरू होने के पहले उन्होने उन नीतियो का समर्थन किया जो म्यूनिक की ओर ले गईं और अन्त मे हिटलर द्वारा चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार किये जाने के एक दिन वाद डसेलडार्फ समझौते पर हस्ताक्षर करवाये। ये लोग सामान्य मानव को घुटनो के वल रेंगवाना चाहते है और उसे एक ऐसा अधम शरणागत वनाना चाहते है जो अपनी जगह पर चूं न करे।"

पायेंगे। युद्ध की समस्यायें भावनात्मक दृष्टि से अधिक सबल होती है और इसलिए उन्हे सर्व-सामान्य का समर्थन प्राप्त होता है, जब कि शान्ति के उद्देश्यो की ओर उतना ध्यान नही दिया जाता क्योकि जब तक युद्ध समाप्त न हो जाय तब तक उनका विवरण-पूर्ण निर्धारण नही हो सकता। किन्तु यदि शान्ति प्राप्त करनी है तो ससार के सभी देशो के प्रगतिशील तत्वो को अपने साधन जुटाने चाहिए और इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि अतीत की शिक्षायें भुला नही दी जायेंगी।

शान्ति-समझौते में सोवियत रूस की आवाज सबल रहेगी। यह कहना तो बहुत आसान है कि हम यह युद्ध ससार को बोलशेविकवाद के लिए सुरक्षित बनाने के उद्देश्य से नही लड रहे। किन्तु नयी पीढी को साम्यवाद की ओर साम्यवाद का प्रेम ही नही प्रेरित कर रहा, बल्कि उन्हे प्रेरित कर रहा है उनका यह सकल्प कि लाखो किसानो और मजदूरो के दयनीय जीवन-स्तर को वे ऊँचा उठायेंगे—उनके जीवन-स्तर को जो सर्वदा क्षुधार्त-स्थिति में रहते है और जब कभी बढ़िया या अकाल का दौडा हो जाता है तब उससे भी नीचे गिर जाते है। जिस प्रकार सोवियत रूस ने एक विस्तृत भू-प्रदेश से दारिद्रय और अज्ञान को दूर भगा दिया है उससे हमारे हृदयो में उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। और फिर इसके अलावा, इन दो युद्धो के बीच की अवधि में वह स्वार्थ-पूर्ण नीतियो मे भागीदार नही बना। सोवियत सरकार ने यह स्पष्ट आश्वासन दिया है कि वह चेकोस्लोवाकिया को म्यूनिक के पहले की स्थिति में प्रतिष्ठित कर देगा। वह तेचिन प्रान्त पर चेकोस्लोवाकिया के दावे का समर्थन करता है जिसको म्यूनिक के बाद पोलैंड ने अपने राज्य मे शामिल कर लिया है। मार्शल स्तालिन

ने लन्दन टाइम्स के मास्को-स्थित सम्वाददाता को विश्वास दिलाया है कि सोवियत् रूस की सरकार की इच्छा यह है कि हिटलरी जर्मनी की पराजय के बाद वह पोलैंड को एक स्वतत्र और सबल राष्ट्र के रूप में देखे और यह कि युद्ध के बाद सोवियत रूस और पोलैंड के बीच के सम्बन्धो का आधार "भद्र पडोसियो के दृढ स्वम्य-सम्बन्ध और पारस्परिक सम्मान के मौलिक सिद्धान्त होगे या--यदि पोलैंट की जनता चाहे तो--पारस्परिक सधि के मौलिक सिद्धान्त होगे जिनमें जर्मनो के विरुद्ध पारस्परिक सहायता का विधान रहेगा, क्योकि सोवियत रूस और पोलैंड के वही प्रधान शत्रु है।"[1] सोवियत रूस में अनेक जातियाँ और जनपद सम्मिलित है जिनको अपने स्वाभाविक विकास के लिए पर्याप्त अवसर और क्षेत्र प्राप्त है। अपनी भौगोलिक स्थिति, अपने दृष्टिकोण और चरित्र से सोवियत रूस एशियाई राष्ट्रों को भली भाँति समझ सकता है और उनके साथ समानता के आधार पर सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। यह एक बहुत बडा लाभ है।

सयुक्त राष्ट्र अमेरिका को सभी लोगो का प्रेम और सब की सद्-भावना प्राप्त है। एक शुद्ध, सरल और व्यापक धारणा यह है कि अमेरिका इस युद्ध में किसी स्वार्थ या प्रदेश या दूसरो पर शासनाधिकारो की प्राप्ति के उद्देश्य से नही सम्मिलित हुआ। वह दूसरे लोगो पर अपना शासन नही लादना चाहता। १९३४ के इन्डेपेन्डेन्स ऐक्ट से फिलिप्पाइन्स को एक स्वशासन का सविधान दिया गया और १९४६ में पूर्ण स्वाधीनता देने का वचन दिया गया है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के विदेश मत्री श्री कार्डेलहल ने २३ जुलाई १९४२ को कहा था—

---

[1] १४ मई १९४३।

"बीते दिनो में यह हमारा उद्देश्य रहा है और भविष्य में यही हमारा उद्देश्य रहेगा कि हम अपने पूरे प्रभाव का उपयोग उन सभी लोगो की स्वाधीनता के समर्थन में करे जो अपने कार्यो से अपने आपको स्वाधीनता के योग्य और उसके लिए तत्पर सिद्ध कर दें।" दलित जातियो को अपनी स्वाधीनता के लिए सक्रिय होने को यह एक प्रोत्साहन है। श्री हल ने हाल के एक प्रेस सम्मेलन मे अपने इस विचार को फिर दोहराया है "यही हमारी अचल परम्परा रही है, हर व्यक्ति की स्वाधीनता के रक्षण और प्रोत्साहन की परम्परा—सर्वदा और सर्वत्र उन्हें उत्साहित करने की परम्परा।" चीन सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका पर विश्वास करता है क्योकि वह जानता है कि जापान के साथ अमेरिका के विभेदो का केन्द्र चीन ही है।[1] अमेरिका को स्वाधीनता के लिए लडनेवाले सभी राष्ट्रो की सद्भावना प्राप्त है। केवल एक खतरा यही है कि यदि विजयी राष्ट्र अपनी शपथो से मुकर जायँ और युद्ध-पूर्व साम्राज्यवादी ढाँचे को फिर से जमाने की कोशिश करें तो अमेरिका शान्ति वार्ताओ से कही अलग न हो जाय। किन्तु अमेरिका को इस प्रलोभन का प्रतिरोध करना चाहिए और स्वस्थ सद्-वृत्ति-पूर्ण शक्तियों के साथ मिलकर एक सुन्दर विश्व-व्यवस्था की स्थापना के लिए काम करना चाहिए।

ग्रेट ब्रिटेन का जन-मत अपने सरकारी प्रवक्ताओ की अपेक्षा बहुत अधिक प्रगतिशील है। इग्लैड का हृदय स्वस्थ है। उसकी अन्तरात्मा के स्वर स्पष्ट है, यद्यपि उसके कार्य पिछडे हुए है। जब

---

[1] फिर भी जब अमेरिका ने इन्डोचीन फ्रासीसी साम्राज्य को लौटा देने का वायदा किया तब चीन कुछ विचलित हो उठा था।

कुचक्री राष्ट्रो द्वारा स्पेन के गणतन्त्र पर आघात किये गये तब अनेक ब्रिटेनवासी बडी उदात्त भावना से उस युद्ध में लडे और स्पेन के गणतन्त्र के लिए अपनी आहुति दी। चीन और जापान के बीच होनेवाले युद्ध को प्रारम्भिक दिनो में जब अग्रेजी सरकार ने एक छोटी सी घटना कहकर टाल दिया तब वहाँ के लोग बहुत दु खी हुए। ब्रिटेन का जनमत भारत में एक ऐसी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के प्रबल पक्ष में है जो जापान के इस प्रचार का प्रभाव-पूर्ण उत्तर दे सकेगी कि ब्रिटेन उन आदर्शों का एक मखौल बना रहा है जिनके प्रति अपनी निष्ठा का वह ढिढोरा पीटता है। किन्तु परम्परागत अग्रेजी साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए कृत-सकल्प श्री चर्चिल की प्रतिष्ठा के सम्मुख उसकी कुछ नही चल पाती। इस सम्बन्ध में श्री चर्चिल की नीति उच्चतर सभ्यता की प्राप्ति के लिए चलनेवाले विश्व-आन्दोलन के विरुद्ध ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार धुरी-राष्ट्रो की नीति। ब्रिटेन के उदात्त-मन के पूर्ण विरोध में यह नीति है।[1] भारत के सम्बन्ध में श्री चर्चिल के कुछ अचल विचार है जिनको बदलने की वह चेष्टा नही करते। स्पेन के प्रति उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में श्रीमती रूजवेल्ट ने अभी उस दिन कहा था "मेरा विचार है कि श्री चर्चिल ने पिछले ६० वर्षों

---

[1] ठीक एक सौ वर्ष पहले (१८४४) लखनऊ के श्री लारेन्स ने लिखा था "भारत को सर्वदा अपने अधीन रखने की आशा हम नहीं कर सकते। तो हमें ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि जब हमारा सम्बन्ध टूटे तो विक्षोभ के साथ न टूटे बल्कि पारस्परिक सम्मान और स्नेह के साथ टूटे और तब इग्लैंड को एक उदात्त सहयोगी प्राप्त हो।"

में एक विशिष्ट विचार-सरणि बना ली है और मुझे ऐसा नही मालूम होता कि वे उसे बदलना चाहते है, और स्पेन के सम्बन्ध में वह उसी ढग से सोचते है।" यदि श्री चर्चिल गत शताब्दी की आदतो से अपना नाता नही तोडते तो युद्ध-काल में ब्रिटेन के नेता के रूप में वह चाहे जितने महान् सिद्ध हो पर विश्व-शान्ति के वह सबसे बडे शत्रु सिद्ध होगे। अपने देश को आत्यान्तिक सकट की अन्धकार-पूर्ण घडियो से वह सफलता पूर्वक अरूणोदय के प्रकाश में ले आये है, जब कि विजय उनके प्रयत्नो पर सफलता का मुकुट धरनेवाली है। यह विजय प्राप्त करने के लिए जो यातनायें और पीडायें लाखो व्यक्ति झेल रहे है उनका मूल्य यदि वह समझ पायें तो वह इतने मानव अवश्य होगे कि ऐसे भयानक मेघ की पुनरावृत्ति रोकने में अपनी पूरी शक्ति लगा देगें। यदि उनके इस मानव-पक्ष को कुरेद दिया जाय तो अपने तेजस्वी साहस से वह ससार को आगे बढाने में सहायता देंगे। सोलह जून सन् १९४० को फ्रास के सम्मुख रक्खा गया उनका यह अनुपम और उदारता-पूर्ण प्रस्ताव कि फ्रासीसी और ब्रिटिश साम्राज्य की समस्त शक्तियो और सस्थाओ को एक सगठित रूप दे दिया जाय यह दिखाता है कि उनमें कितनी क्षमता है।[1] न केवल हिटलर की सैनिक शक्ति का कुचलना

---

[1] १६ जून सन् १९४० को अग्रेज सरकार न फ्रासीसी सरकार के पास एक प्रस्तावित घोषणा-पत्र भेजा जो निम्नलिखित है --

ऐक्य-घोषणा पत्र

आधुनिक ससार के इतिहास की इस सर्वाधिक सकटपूर्ण घडी में यूनाइटेड किंगडम (सयुक्त राष्ट्र-मण्डल--ब्रिटेन) और

वल्कि युद्ध-पूर्व ससार से एक सुन्दरतर ससार की स्थापना भी उनका एक महान् कर्तव्य है। अमेरिका, रूस और चीन को, जो सयुक्त राष्ट्र-

---

फ्रासीसी गण-राज्य की सरकारें मानव-जाति को मशीनो और दासो के स्तर पर गिरानेवाली प्रथा की दासता के विरुद्ध न्याय और स्वाधीनता की अपनी सामान्य सुरक्षा के लिए अपनी अविलयनशील एकता और अपने अपराजेय सकल्प की यह घोषणा करती है।

दोनो सरकारें घोषणा करती है कि फ्रास और ब्रिटेन अब दो राष्ट्र नही रहेंगे वल्कि एक फ्रासीसी-ब्रिटिश सघ बन जायेंगे। इस सघ के सविधान में सुरक्षा, वैदेशिक, आर्थिक और वित्तीय नीतियो की सयुक्त सस्थाओ की व्यवस्था रहेगी। फ्रास का प्रत्येक नागरिक ग्रेट ब्रिटेन की नागरिकता प्राप्त कर लेगा, इग्लैड की प्रत्येक प्रजा फ्रास का नागरिक बन जायगी।

युद्ध द्वारा होनेवाले विध्वसो के पुनर्निर्माण का उत्तरदायित्व दोनो देशो का होगा, यह विध्वस उनके भू-प्रदेशो में चाहे जहाँ हो और दोनो देशो के साधनो का समान और एक-रूप नियोग इस कार्य के लिए किया जायगा।

युद्ध-काल में एक युद्ध-मत्रिमण्डल रहेगा और ब्रिटेन और फ्रास की समस्त स्थल, जल तथा नौ-शक्ति उसके नियत्रण में रक्खी जायगी। जहाँ से सर्वोत्तम रीति से सम्भव हो वही से यह मत्रि-मण्डल अपना काम करेगा। दोनो ससदो—पार्लियामेटो—को विधिवत मिला दिया जायगा।

अग्रेजी साम्राज्य के राष्ट्र पहले से ही नई सेनाये तैयार कर रहे है। फ्रास भी अपनी प्राप्य जल, स्थल और नौ-सेनायें मैदान में रक्खेगा। यह सघ सयुक्त राष्ट्र अमेरिका से अपील करता है कि मित्र-राष्ट्रो के आर्थिक साधनो को दृढ करें और इस सामान्य लक्ष्य की सिद्धि में अपनी शक्तिपूर्ण भौतिक सहायता दे।

चाहे जहाँ युद्ध हो यह सघ अपनी समस्त शक्ति शत्रु शक्ति के विरुद्ध केन्द्रित करेगा। और इस प्रकार हम विजयी होगे।

सघ के सबल सदस्य हैं, चर्चिल के इस १९ वी शताब्दी के साम्राज्यवाद से कोई सहानुभूति नही और उनका विश्वास है कि वह यह युद्ध भारत की स्वाधीनता के लिए उतना ही लड रहे है जितना स्वय अपनी स्वाधीनता के लिए। यदि ये राष्ट्र कोई खुला दृढ विरोध नही प्रगट करते तो इसका कारण यह है युद्ध-काल में मित्र-राष्ट्रो के बीच किसी प्रकार के भी विभेद को बराना चाहते है।

जिन उद्देश्यो की घोषणा पर मित्र-राष्ट्रो ने गम्भीरता पूर्वक हस्ताक्षर किये है उनके पूरे किये जाने की आवश्यकता है। मित्र-राष्ट्रो को--छोटे और बडे सबो को--एक साथ काम करना होगा और शान्ति-सम्मेलन मे दो या तीन राष्ट्रो के किसी गुट का आदेश नही चलना चाहिए, वे राष्ट्र चाहे जितने प्रभावशाली हो। श्रीमती ऐम्टर ने कहा है "मै चाहूंगी कि अमेरिका और ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल द्वारा स्थापित नवीन समाज के ढाचे में चीन और रूस भी सम्मिलित हो, पर इसके लिए उन्हें अग्रेजो की विचार-पद्धति अपनानी होगी।"[1] ससार की आशा इस बात मे है कि ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, सोवियत सघ और चीन के साथ पूरा-पूरा और हार्दिक सहयोग करे। एक होकर यह राष्ट्र ससार को सामान्य आदर्शो की दिशा में आगे ले जा सकते है, किन्तु यदि पारस्परिक सन्देहो ने उन्हे अलग-अलग रखा तो धुरी राष्ट्रो की पराजय भले ही हो पर विजय उन्ही की नीतियो की होगी।

न्याययुक्त विश्व-शान्ति के आधारभूत सिद्धान्त

यदि हमें शान्ति जीतनी है, यदि एक व्यवस्थित मानव समाज की

---

[1] न्यूज़ क्रानिकल, अक्टूबर १९४२।

महान् आशा और स्वप्न को पराजित नही करना है तो हमें विचार-जगत में भी अत्याचार को पराजित करना होगा और एक न्याययुक्त विश्व शान्ति के प्राथमिक सिद्धान्तो को स्वीकार करना होगा। लोग अपना बलिदान कर रहें है एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिए नही जो एक अनिश्चित और-मन्द सघात-गति से किसी सुदूर भविष्य में स्थापित हो बल्कि एक समानता के लिए जिसकी जान बूझ कर सायास योजना बनाई जाय और जिसे अपना लक्ष्य बनाया जाय।

(१) जातीय समानता

विगत शान्ति-सम्मेलन मे जातीय समानता का सिद्धान्त उपस्थित किया गया था पर वह अस्वीकार कर दिया गया। एशिया में जापान के तेज बढाव के चाहे जो कारण बताये जाँय, हमे यह स्वीकार करना ही चाहिए कि एक ऐसे प्रभावपूर्ण उदार नेतृत्व का अभाव था जो एशिया के लोगो में प्रतिरोध की सकल्प-भावना जगा सके। अधिकाश में लोग जापान की विजयो के तटस्थ और विरक्त दर्शक-मात्र बने रहे। अभी उस दिन कैंटरबरी के महापादरी ने कहा था कि "इस युद्ध का परिणाम हुआ है रगीन जातियो के प्रति एक नया सम्मान।" यह सोचकर दु ख होता है कि जिन सभ्य-सस्कृत-मान महत्वो के पोषक चीन और भारत सदियो से रहे है—चीन की परम्परा की अमूल्य दार्शनिक और कलात्मक निधियाँ, भारत के आध्यात्मिक और धार्मिक वैभव—उन्हें समानता के व्यवहार के अधिकारी न बना सके, किन्तु जापान की विजयो, चीन के वीरतापूर्ण प्रतिरोध और योरोप, एशिया और अफ्रीका के युद्धक्षेत्रो में भारत की महान् सफलताओ ने अपना मूल्य

आँकने पर लोगो को विवश कर दिया। हम नैतिक महत्ता को सामरिक शक्ति के साथ एक-रूप बना रहे है। मित्र-राष्ट्रो ने घोषणा की है कि युद्ध धुरी-राष्ट्रो के विरुद्ध, जो प्रभु या शासक जातियो की धारणा पर विश्वास करते है, जातीय समानता के लिए लडा जा रहा है। मित्र-राष्ट्र एक जाति या एक रग के नही है लेकिन वे एक ही उद्देश्य को मानते है। दलित राष्ट्रो के लिए अपने सगठित पुरुषत्व को युद्ध-यत्र में परिणत करना, अपने देशो को बन्दी-शिविरो का रूप दे देना और मानवता का मूल्य चुका कर युद्ध-कौशल विकसित करना आवश्यक नही होना चाहिए। मानव जाति के लिए वह दिन बडा दु खद होगा जब न्याय अपनी न्याय्यता के कारण नही बल्कि सैनिक शक्ति के बल पर ही स्वीकार किया जायगा। राष्ट्र टैन्को, बम बाजो और युद्ध पोतो से लैस होने के कारण महान् नही बनते, बल्कि वे महान् बनते है अपनी कल्याण-क्षमता के कारण। चीन और भारत अनेक राजनीतिक उत्थान-पतनो और विप्लवो से होकर गुजरे है। अनेको बार विदेशी आक्रमणकारियो ने उनके देश बरबाद किये है, लोभी-लालची राष्ट्रो ने उनकी सम्पति का शोषण किया है, फिर भी उनकी सभ्यतायें नष्ट नही हुई--बल्कि उन्होने अपनी प्रगति जारी रक्खी है--प्राय युद्ध क्षेत्र के विजय पाने वाले अपने विजेताओ पर भी अपनी विजय स्थापित करते हुए। उनमें एक अद्भुत जीवनी-शक्ति है, एक अद्भुत स्थायित्व और सहनशक्ति है जो आज के अस्थिर विक्षुब्ध ससार के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

(२) एक विश्व राष्ट्र-मण्डल

एक ऐसे विश्व में जो दृढता से एक में बँधा हुआ है, जो तत्वत-

अविभाज्य है और जो यथार्थत अविभाज्य होने के लिए दबाव डाल रहा है, एकान्त तटस्थता और साम्राज्यवाद दोनो ही गये बीते और अनुपयुक्त है। सर्वाधिक शक्तिमान राष्ट्र या राष्ट्रो के गुट के लिए भी एकान्त तटस्थता सम्भव नहीं है। इस युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया है कि ब्रिटिश राष्ट्र-मडल, अमेरीकी सघ अथवा सोवियत रूस जैसे बडे-बडे गुट भी अकेले अपनी स्वाधीनता की रक्षा नही कर सकते। उनमे से कोई भी अपने आप में पर्याप्त नही है। ब्रिटिश राष्ट्र मडल जिसके अधीन भू-प्रदेश ससार के हर भाग में बिखरे हुए है, तो सबसे कम अपने आप में पर्याप्त कहा जा सकता है। हमारा उद्देश्य आत्म-तुष्ट या स्वय-पर्याप्त स्वाधीनता नही, शान्तिप्रिय राष्ट्रो का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होना चाहिए। जो राष्ट्र एकान्त-तटस्थता की नीति अपनाते है वे अपनी स्वाधीनता खो देंगे और अपनी सीमा में बन्द रूद्ध-श्वास मर जायगें।

साम्राज्यवाद का अर्थ है कुछ दूसरे राष्ट्रो की स्वाधीनता का बलिदान। यह युद्ध इसलिए लडना पडा कि पिछले युद्ध के विजयी राष्ट्रो ने अपने अतीत आक्रमणो और अपकारो के फल नही त्यागे थे। अब भी अग्रेज, फ्रासीसी डच और अन्य उपनिवेशो के स्वामी आसानी से यह त्याग करने के लिए नही झुकेगें। यदि एक लोभी व्यक्ति एक कटक है तो एक लोभी राष्ट्र तो एक महान् आपदा है। जो देश धुरी-राष्ट्रो के आक्रमणो से रौंदें जा सके है केवल वही नही बल्कि ससार के सब भागो के उन सब देशो को विना किसी बाहिरी हस्तक्षेप के अपना भाग्य-निर्माण करने की स्वाधीनता मिलनी चाहिए जो विदेशी शासन के अधीन है। सभी राष्ट्र एक विश्व-समाज के समर्थ और सम्मान्य सदस्य है और ऐसे समाज के साथ राजनीतिक साम्राज्यो का मेल नही

बैठ सकता। हम धुरी राष्ट्रो द्वारा होने वाले शोषण के विरुद्ध इसलिए नही लड रहे कि उसके स्थान पर स्वय अपने द्वारा किया जाने वाला शोषण स्थापित करे।

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावना भी गहरी होती जा रही है। यह दोनो प्रवृतियाँ परस्पर घातक नही है। दोनो एक दूसरे की पूरक है। जैसे गुलामो को इकट्ठा कर एक प्रजातत्रवादी राज्य नही बनाया जा सकता बल्कि स्वतत्र और आत्म-सम्मान-पूर्ण स्त्री पुरुपो द्वारा ही उसका निर्माण होता है, ठीक उसी प्रकार गुलाम राष्ट्रो से विश्व-समाज की स्थापना नही हो सकती। हमे एक ऐसे राष्ट्र-मडल की स्थापना करनी चाहिए जिसके सब सदस्यो को अवसर की समानता प्राप्त हो। सयुक्त राष्ट्र-सघ को, अगुवा सदस्यो के रूप में, ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, सोवियत रूस और चीन की एक समिति बनानी चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन और पश्चिमी योरोप के प्रजातत्र-वादी राष्ट्रो की सुरक्षा के लिए एक सम्भव सगठन का सुझाव फील्ड मार्शल स्मट्सने दिया है। किन्तु इस प्रकार के प्रादेशिक गुट एक विश्व समिति के अधीन ही काम कर सकते है, अन्यथा वे बुराइयो के स्रोत बन जॉयगें। प्रादेशिक सधियाँ प्रादेशिक सुरक्षा की भावना उत्पन्न कर सकती है और आन्तरिक अव्यवस्थाओ या गडबडियो को रोक सकती है, किन्तु यह प्रादेशिक गुट विश्व-शक्तियो से अलग नही टिक सकते। यदि पूर्ण-युद्ध का अर्थ है युद्ध-रत ससार, तो पूर्ण शान्ति का अर्थ है एक सुरक्षित ससार। मानव जाति को एक रूप होकर आगे बढना चाहिए। विश्व-समिति बहिष्कार मूलक नही होनी चाहिए बल्कि उसे सामान्य सगठन में धुरी-राष्ट्रो को भी, उनका पुनर्निर्माण हो जाने के बाद, आमन्त्रित करना चाहिए।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस

गाधीजी की यह घोषणा बिलकुल ठीक है कि युद्ध एक पाप है और अहिंसा, युद्ध न करने का मानव सकल्प, उसका एक मात्र स्थायी उपचार है। शान्ति तो आत्म-बलिदान, विनय, पश्चाताप और आत्म-निवेदन का महान् फल है न कि हिंसा और विजय का। ईश्वर पर विश्वास करने वाले, उनकी धार्मिक सज्ञा चाहे जो हो, अहिंसा पर अपना विश्वास घोषित करते है। जर्मनी के साइलीशिया प्रदेश में, जो आज एक विस्तृत युद्ध-क्षेत्र बना हुआ है, एक पुराना शहर है गार्लिज, जो अब उद्यम और उद्योगो का एक केन्द्र बन गया है, इस शहर को जाने वाली एक कोलाहल पूर्ण सडक पर कुछ वर्ष पहले महान् पर नितान्त अप्रसिद्ध क्रिश्चियन जैकब बायम के सम्मान में एक मूर्ति रखी थी जिसकी आधारशिला पर यह शब्द खोदे गये है, "प्रेम और विनय हमारी तलवार है।" ससार की मुक्ति आत्मा के ऐसे ही सैनिको द्वारा सिद्ध हो सकती है जो स्वेच्छापूर्वक यातना और जीवनोत्सर्ग तक इस विश्वास से स्वीकार करते है कि वह बलिदान अत्याचारी और बलिपन्थी दोनो को ही ऊपर उठायेगा। गाँधी को एक अव्यावहारिक स्वप्नदृष्टा कह कर हम उनकी हँसी उडा सकते है। किन्तु वह उन रचनात्मक आत्माओ में से है जो अपना आविर्भाव इस ससार में बडी लम्बी अवधि के बाद करती है। अपने जीवन और उपदेशो के बल से इस एकाकी पुरुष ने, जो मानवता के विवेक की—उसकी अन्तरात्मा की मूर्ति बना है, इस ससार में कितनी कामना, कितनी आशा उत्पन्न कर दी है। वह हम से कहते है कि हम अपने विवेक की आँखें खोलें, चैतन्य बनें और अपने वर्तमान जीवन की

प्रमत्तता का, पागलपन का अनुभव कर। यदि हम युद्ध की क्रूरताओ और नृशस उत्तेजनाओ के अभ्यस्त हो जाते हैं और विश्वास करने लगते है कि यह सब मनुष्य के लिए स्वाभाविक है तब तो हमारी मनुष्य जाति में मानवता का लेश भी न रह जायगा। इस अन्धयुग में सम्भवत गाँधी की आँखो में ही सर्वाधिक प्रवुद्ध ज्योति है, सम्भवत वही वर्तमान विभीषिकामयी आपदा का पूरा-पूरा अर्थ समझ पाये है।

किसी न किसी दिन मनुष्य इस हत्याकाड से परिश्रान्त हो जायगा, ऊब जायगा पर वर्तमान परिस्थितियो में तो शक्ति का प्रयोग करना ही पडेगा। पर यह प्रयोग विधान का निर्वहन करने वाले निष्पक्ष न्यायाधीश द्वारा होना चाहिए, क्योकि विधान के आदेश और अनुमति से शक्ति का प्रयोग करने की अपेक्षा उसका अनियमित प्रयोग तो बहुत ही बुरा है। मचूरिया में राष्ट्र-सघ की सविद भग हो गई, एथिओपिया स्पेन, अल्वानिया, और आस्ट्रिया में वह छिन्न-भिन्न हो गई—म्यूनिक मे जो कुछ हुआ उसकी तो चर्चा ही छोडिये—क्योकि राष्ट्र-सघ के पास दृढ अनुशासन की कोई शक्ति न थी। सघ एक ऐसी बन्दूक की तरह था जिससे खोखली गोलियाँ दागी जाती थी। नवीन राष्ट्र-सघ के पास एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस होनी चाहिए, और सरकारो को अपनी प्रभु-सत्ता का कुछ अश उसे समर्पित करना चाहिए। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार-सत्ता और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्त को मानते है उन्हे अपनी वर्तमान प्रभु-सत्ता के कुछ अश को वलिदान करने के लिए तैयार होना चाहिए। यदि हम शान्ति और सुरक्षा चाहते है तो हमे उन साधनो से घृणा नही करना चाहिए जो शान्ति और सुरक्षा को जन्म देते है। ससार की शक्तिशाली सरकारें, विशेष कर वे जो युद्ध में विजय पाती है, इस माग के सामने आसानी से झुकने को तैयार हो,

ऐसा सम्भव नही है, किन्तु ससार की पराजित और पराधीन जातिया और विजयी राष्ट्रो के आदर्शवादी तत्व भी इस प्रकार के विश्व-सगठन का स्वागत करेंगे। यदि हम मानव-स्वभाव और देश-भक्ति के गर्व का विचार करें तो एक ऐसी सहयोग-मूलक सैनिक कार्यवाही के द्वारा सामूहिक सुरक्षा सिद्ध कर सकना, जो राष्ट्रो को अपनी स्थल, जल और नौ सेनायें सज्जित करने की शक्ति दे, इतना प्रभावपूर्ण न होगा जितना कि एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-शक्ति का निर्माण। और यह ससार केवल बडी-बडी शक्तियो द्वारा ही सचालित भी नही हो सकता। हमे एक केन्द्रीय सगठन स्थापित करना चाहिए जिसके अपने न्यायालय हो जो अन्तर्राष्ट्रीय झगडो का निपटारा करें। और एक सगठित सैनिक शक्ति हो जो उनके निर्णयो को लागू करे। इस विश्व सगठन को एक आगम-शुल्क-सघ स्थापित करना चाहिए, एक सामान्य मुद्रा स्थापित करनी चाहिए और इस बात पर जोर देना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय झगडोमें अनिवार्य मध्यस्थता स्वीकार की जाय। विश्व-सगठन को न केवल सुरक्षा का सभार करना चाहिए बल्कि उसे शान्तिपूर्ण परिवर्तन का भी प्रभावशाली साधन बनना चाहिए। भौतिक समृद्धि में जो राष्ट्र पिछडे हुए है उन्हें अपनी आर्थिक और राजनैतिक उन्नति में अधिक उन्नत राष्ट्रो द्वारासहायता दी जानी चाहिए और इस उद्देश्यके लिए अन्तर्राष्ट्रीय निर्देश-समितियाँ स्थापित की जानी चाहिए। पिछडे हुए राष्ट्रो को आर्थिक, प्राविधिक, औद्योगिक और अन्य प्रकार की सहायता मिलनी ही चाहिए और इन राष्ट्रो को राज्य द्वारा सचालित सहकारिता मूलक अर्थ-नीति के आधार पर अपनी एक विकास-योजना अगीकार करनी चाहिए।

इटली-स्थित भूतपूर्व सोवियत राजदूत एम० बोरिसस्तीन ने अपने

एक 'युद्ध और श्रमिक वर्ग' शीर्षक निबन्ध [1] में लिखा है कि निरुपाधिक आत्म-समर्पण कोई ऐसा सिद्धान्त नही है कि परिस्थिति विशेष के यथार्थ तथ्यो की परवाह किये विना ही अन्धे वनकर उसे लागू किया जाय। एम० स्तालिन जर्मनी के निरुपाधिक आत्म-समर्पण की वात नही करते वल्कि वह तो केवल हिटलरी जर्मनी के पराजय की वात करते है।[2] पराजित लोगो की अवहेला और घृणा और उसके

---

[1] ७ मई १९४४।

[2] कहा जाता है कि सन् १९४२ में जव आग्ल सोवियत-सधि के कागजात तैयार किये गये तो मसविदे में 'जर्मनी' शव्द था और श्री स्तालिन ने एक कलम उठाई और उसे बदल कर 'हिटलरी जर्मनी' कर दिया। एक दूसरे अवसर पर उन्होने कहा था—"हम जर्मनी का विनाश करने की समस्या से परेशान नही है क्योकि जैसे रूस का विनाश किया जाना सम्भव नही है उसी प्रकार जर्मनी का विनाश किया जाना भी कम असम्भव नही है। किन्तु हिटलरी-राज्य का समाप्त किया जाना सम्भव है और आवश्यक भी।" इसके साथ श्री नेवाइल चेम्वरलेन की तुलना कीजिए—"इस युद्ध मे हम आपके—जर्मन जनता के—विरुद्ध नही लड रहे जिनके प्रति हमारे हृदय में किसी प्रकार की कटु भावनायें नही है, वल्कि हम तो एक अत्याचारी और मिथ्याचारी शासक-सत्ता के विरुद्ध लड रहे हैं जिसने न केवल आपको—स्वय अपनी प्रजा को—धोखा दिया है वल्कि समूची पश्चिमी सभ्यता के साथ, और जो कुछ हमें और आपको प्यारा है उस सव के साथ, विश्वासघात किया है।" सितम्बर ५, १९३९। सम्राट् की सरकार की ओर से वोलते हुए लार्ड चैन्सलर ने १० मार्च सन् १९४३ की हाउस आफ लार्डस में घोषणा की थी—"हम प्रधान मत्री स्तालिन के साथ सहमत है एक तो इस वात में कि हिटलरी राज्य नष्ट किया जाना चाहिए, और दूसरे

द्वारा उनके हृदयो पर एक गहरी चोट पहुँचाने की प्रवृत्ति में अत्यन्त भयानक परिणाम छिपे हैं। विजयी और विजित का अन्तर अनिवार्यत कोई पुण्यात्मा और पापात्मा के बीच का अन्तर नही है। युद्ध किसी भी झगडे के अपराधियो और निर्दोषो — पुण्यो और पापो का फैसला नही करता। और फिर हिंसा का कोई अन्तिम चरम-रूप तो निश्चित नही है।

हर प्रकार की शक्ति मनुष्य में जो एक आन्तरिक कठोरता उत्पन्न करती है, विजय की घडी मे जो आध्यात्मिक-जडता या स्तब्धता एक समूची जाति पर छा जाती है, उमसे हमें अपने आपको बचाना ही होगा। कुछ ऐसे भी लोग है जो हमे यह समझाते है कि पिछले युद्ध में जर्मनी का ठीक ठीक दलन नही किया गया था। उसे पराजित किया था पर छिन्न-भिन्न नही किया गया था। हमे यह भूल दुबारा न करनी चाहिए। हमे जर्मनी का इतना व्यापक विनाश कर देना चाहिए कि उसके फिर प्रत्युद्धार की कोई आशा न रह जाय। नगरो को धूलिसात् कर दो, धरती को जोतकर उसमें नमक बो दो जैसा कि रोम के लोगो ने कार्थेज के साथ किया था।"[1] यह तो पागलपन का रास्ता है। २५ मई सन्

इस बात मे कि इस विनाश का यह अर्थ नही है कि इससे समूची जर्मन जनता का विनाश हो जाय।"

[1] जर्मनी के साथ एक 'सयत-शान्ति समझौता' की माँग करते हुए ब्रिटेन के प्रधान साप्ताहिक पत्र इकानामिस्ट ने १० अगस्त १९४४ के एक लेख में 'जर्मनी के लिए शर्तें' पर लिखते हुए कहा है कि यद्यपि निर्दिष्ट शर्तें ज्ञात नही है फिर भी इसमे कोई सन्देह नही हो सकता कि मित्र-राष्ट्रो की शर्तें कार्थेज की सधि-शर्तों से बढकर ही होगी। अर्ध-राजकीय वक्तव्यो, छोटे मित्र-राष्ट्रो की घोषणाओ,

१९४४ को श्री चर्चिल ने कहा था—"हम चोट खाये हुए हैं और अनुभव प्राप्त किये हुए हैं, हमारी इच्छा है कि अपने पुत्रो और पौत्रो के जीवनकाल मे मानव-मूल्यो के उस भयानक विनाश की पुनरावृत्ति रोकने के लिए जो पिछले और वर्तमान विश्व युद्धो की विशेषता रही है, हम इस बार उन उपायो से अधिक अच्छे उपायो की व्यवस्था कर जो पिछली बार सोचे जा सके थे।"

यदि वह ससार से युद्ध का सकट दूर करने की कामना करते है, यदि मानव-जाति के हृदय में फिर से आशा का सचार करना है, यदि

अफवाहो और प्रेस रिपोर्टो---सबका यही सकेत है कि शान्ति समझौता, क्षतिपूर्ति, प्रतिफल, प्रदेशो का विलयन और आबादी के परिवर्तन की शर्तो से भरा होगा।

जो सम्वाद मिल रहे है उनके अनुसार पूर्वी प्रशा को रूस और पोलैण्ड के बीच बॉट दिया जायगा, पोमेरानिया और साइलीशिया के बडे-बडे हिस्से पोलैण्ड को मिल जायँगे, राइनलैण्ड फ्रास को मिल जायगा और कुछ हिस्से हालैण्ड को मिल जायँगे। कुछ क्षेत्रो में प्रदेश-सम्मिलन के साथ जर्मन जनता का बहुसख्यक स्थानान्तरण भी होगा जिसमें लगभग एक करोड जर्मन अपना घर-बार छोडने पर विवश होगे।

यह घोषणा करते हुए कि इस सब से युद्ध का सकट टलने के बजाय और निश्चित् और अवश्यम्भावी हो जायगा, इस पत्र ने अपील की है कि एक सयत शान्ति-समझौता किया जाय जिसमें युद्ध अपराधियो को दण्ड, शारीरिक क्षति पूर्ति, और पूर्व में कुछ सीमाओ का सुधार जहॉ आबादी के स्थानान्तरण के बजाय उसकी अदला-बदली सम्भव हो सके, शामिल रहना चाहिए। जिस प्रकार की प्रादेशिक व्यवस्था की प्रस्तावना की जा रही है उसके पक्ष मे और उसे लागू करने के लिए पश्चिम मे मित्र-राष्ट्रो का जनमत एक उंगली उठाने के लिए भी इच्छुक न होगा।

जर्मनी और जापान में भी लोगों को यह अनुभव करना है कि—जैसा मार्शल स्तालिन ने कहा है—यह युद्ध सचमुच स्वाधीनता का, मुक्ति का युद्ध है, कि सभी राष्ट्र और सभी जातियाँ जो आज विदेशी अधिकार में हैं—यह अधिकार चाहे धुरी-राष्ट्रों का हो चाहे अन्य साम्राज्यवादों का—स्वाधीन की जायँगी, तो उसका रास्ता यह है कि तत्काल इस बात की घोषणा कर दी जाय कि वास्तव में यही हमारा उद्देश्य है और धरती पर किसी भी राष्ट्र या जाति को अपने भावी भाग्य के सम्बन्ध में शंकाकुल होने की आवश्यकता नहीं है। यदि धुरी-राष्ट्रों को इस बात का भय बना रहा कि पराजय के परिणाम होंगे अंग-भंग, अराजकता और कटु अपमान, तो वे इन परिणामों से बचने के लिए उस साहस के साथ लड़ेंगे जो निराशा से उत्पन्न होता है। यदि हमें शान्ति से प्रेम है, यदि हम युद्ध की यातना को घटाना चाहते हैं, यदि सैनिक विजयों को तीव्रगामी और उनके मूल्य को कम भयानक बनाना है तो मित्र-राष्ट्रों को अपने राजनीतिक अस्त्र का प्रयोग एकता और शक्ति के साथ करना चाहिए। यदि वे आज अविलम्ब यह घोषणा करदें कि वे बालकन राज्यों समेत समस्त छोटे-छोटे राज्यों, आश्रित-राज्यों और उपनिवेशों की स्वाधीनता की रक्षा करेंगे और उसकी प्रत्याभूति देंगे तो इन सभी राज्यों की नीतियाँ एक नवीन दिशा की ओर मुड़ जायँगी और हो सकता है कि धुरी-राष्ट्र भी शान्ति समझौते की प्रार्थना करें। इस महान् सिद्धि के लिए क्या हममें इतनी आदर्श कल्पना, इतना साहस इतनी शक्ति और इतनी बलिदान की भावना है?

परिशिष्ट १

(डाक्टर एस० राधाकृष्णन के सम्मान में दिये गये प्रीति-भोज के अवसर पर माननीय मन्त्री चेनली-फू का स्वागत भाषण ९-५-१९४४)

सर एस० राधाकृष्णन और सज्जनो--आज की इस संध्या-वेला में एक विश्व-विख्यात विद्वान्--सर एस० राधाकृष्णन का स्वागत करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है जो चीन की सरकार के निमन्त्रण पर चुगकिंग पधारे है। उनके आगमन के लिए अपनी कृतज्ञता प्रकाशन के रूपमें मै इस अवसर पर यह बता देना चाहता हूँ कि हमने किस उद्देश्य से उन्हें आमन्त्रित किया है और उनके कृपापूर्ण आगमन तथा इस देश में उनके भाषणो के क्या सम्भाव्य परिणाम होगे।

सर एस० राधाकृष्णन का स्वागत प्रथम तो हम इसलिए करते है कि वे एक सुविख्यात दार्शनिक है जिन्होने पूर्व के दर्शन-शास्त्र और धर्म का गम्भीर अध्ययन किया है और उनके सम्बन्ध में अनेक पुस्तकें लिखी है। दर्शन समस्त ज्ञान का गुरु है। अध्यक्ष च्याग का कहना है--"दर्शन क्यो इतना महत्वपूर्ण है और उसकी शक्ति क्यो इतनी महान् है, इसका रहस्य विश्व का अध्ययन करने, उसकी व्याख्या करने और उसके भीतर की समस्त वस्तुओ का नियमन करने की उसकी भावना में है। जीवन का यथार्थ महत्त्व बताने और मनुष्य की समस्याओ का समाधान करने की शक्ति दर्शन के अतिरिक्त और कही नही।" पूर्व और पश्चिम दोनो ही में दर्शन का अध्ययन बहुत पहले प्रारम्भ हो गया था। वास्तव में यह अध्ययन ज्ञान की किसी भी शाखा के अध्ययन से पहले प्रारम्भ हुआ था। उदाहरण के लिए 'दि बुक आफ चेन्ज़ेज़', जो दर्शन-शास्त्र का एक महान् ग्रन्थ है, प्राचीन चीनी ग्रन्थो के रचनाकाल

के क्रम से सबसे पहला ग्रन्थ है। आधुनिक विज्ञान के युग में भी अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिक दार्शनिक भी है जैसे श्री अल्वर्ट आइन्स्टीन, श्री बर्ट्रेन्ड रसल और श्री हैन्सड्राइख जो चीन पधारे थ और जिनका विज्ञान का अध्ययन अन्ततोगत्वा दर्शन में ही लौट आता है। इसीलिए हम यह कह सकते है कि दर्शन-शास्त्र ही प्रथम और अन्तिम ज्ञान है। वर्तमान समय में जब कि प्रतिरोध-सग्राम लडने में हमें विज्ञान की अत्यधिक आवश्यकता है तभी हमें दर्शन-शास्त्र के अध्ययन की और भी अधिक जरूरत है। युद्धोत्तर विश्व-सुधार और स्थायी शान्ति की दृढ नीव रखने के लिए एक सुन्दर समुन्नत दार्शनिक आदर्श की हमें विशेष आवश्यकता है। इसीलिए हमने सर एस० राधाकृष्णन को चीन में प्रवचन करने के लिए आमन्त्रित किया है, इस आशा से कि पूर्व के दर्शन-शास्त्र और धर्म के अपने गम्भीर अध्ययन और अग्रेजी तथा अमरीकी विश्व-विद्यालयो मे भाषण देते हुए उन्होने पश्चिम की विचार-धारा और सस्कृति का जो पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है उससे हम उनसे, जो कुछ मनन चिन्तन वह हमें बतायें, हम सीख सकें।

सर एस० राधाकृष्णन का स्वागत हम इसलिए और भी करते हैं कि वह भारत के एक प्रतिनिधि विद्वान है और भारत हमारे देश के साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्धो से जुडा हुआ है। भारत और चीन की सस्कृतियो का अन्तर्प्रवाह बहुत पहिले प्रारम्भ हो गया था। अतीत युग में चीन की सभ्यता पर भारतीय सस्कृति का बहुत प्रभाव पडा था, और भारतीय सभ्यता पर चीन की सस्कृति का भी प्रभाव पडा था। जब से महान् कवि-दार्शनिक स्वर्गीय डाक्टर रवीन्द्रनाथ टैगोर हमारे देश पधारे थे और माननीय ताई ची-ताओ न भारत की यात्रा की है तब से भारत और चीन के बीच सास्कृतिक सम्बन्ध पहले की

अपेक्षा अधिक घनिष्ट हो गये हैं। गत-वर्ष से पूर्व-वर्ष में महाबलाधिकृत और श्रीमती च्याग समूचे चीन राष्ट्र की मित्रता का सन्देश भारत ले गये थे और इस प्रकार दोनो देशो के बीच स्नेह और भी गहरा हो गया। गत वसन्त में इस मत्रालय के उपमत्री डाक्टर कू एक और शैक्षिक और सास्कृतिक शिष्ट-मण्डल का नेतृत्व करते हुए भारत गये थे और बनारस विश्वविद्यालय भी देखा था। मुझे यह बतलाते हुए प्रसन्नता होती है कि इस समय हमारे तीन विद्यार्थी उस विद्यालय में अध्ययन कर रहे है और उस विश्वविद्यालय ने भी अपना एक विद्यार्थी हमारे देश में अध्ययन करने के लिए भेजा है। शैक्षिक शिष्टमडल के लौटने के बाद हम लोगो ने निश्चय किया की भारत के प्रतिनिधि विद्वानो को चीन में भाषण देने के लिए आमन्त्रित करें। हमारा निमत्रण स्वीकार करके इस देश पधारनेवाले सर एस० राधाकृष्णन प्रथम ऐसे भारतीय है। हमारा दृढ विश्वास है कि भारतीय और चीनी दोनो ही पूर्व की महान् जातियाँ है जिनका एक दीर्घ इतिहास है और जिनकी एक ऊँची सस्कृति है। पारस्परिक सद्बोध और सहयोग के आधार पर दोनो निस्सन्देह पूर्व की और समूचे ससार की प्रगति में—उनके स्थायित्व में समान-रूप से योगदान करेंगे। हमारा विश्वास है कि दोनो देशो के शिक्षको और विद्वानो का घनिष्ट सहयोग इस प्रकार के सद्बोध और सहयोग को उन्नत और गम्भीर बनायेगा। हमारा यह भी विश्वास है कि सर एस० राधाकृष्णन जो पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शनशास्त्रो और धर्मो में इतने निष्णात है, इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। हम इस बात का भरोसा कर सकते है कि इस देश मे सर एस० राधाकृष्णन् के आगमन के बाद भारत और चीन के सास्कृतिक सम्बन्धो का और भी घनिष्ठ विकास होगा।

मुझे याद आता है मैंने एकबार कहा था, "प्रकाशमान् तारे पश्चिम की भाँति पूर्व में भी चमक सकते हैं।" मैंने यह भी कहा था कि जिन जातियो के बीच सर्वाधिक पारस्परिक सद्बोध होगा उन्ही के बीच सर्वाधिक पारस्परिक सहानुभूति होगी। मै बडे सम्मान और पूर्ण सत्यनिष्ठा के साथ, सर एस० राधाकृष्णन् का स्वागत करता हूँ। अनुमति दीजिए कि मै उपस्थित अतिथियो के साथ सर एस० राधाकृष्णन् के स्वास्थ्य और चीन में उनके आनन्दमय अल्पप्रवास की शुभकामना का पान करूँ।

परिशिष्ट २

शिक्षा मंत्रालय

चुंगकिंग, चीन

इस मंत्रालय के निमंत्रण पर सर एस० राधाकृष्णन् प्रवचन देने के लिए चीन पधारे हैं और हमें भूयसी ज्ञान-ज्योति दी है। उनके विदा की बेला में अपने हार्दिक भावना प्रगट करने के लिए मैंने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं, इस कामना के साथ कि भारत व चीन की संस्कृतियों का अन्तर्प्रवाह अनन्तकाल तक, जब तक गंगा और यांग्त्सी की धारायें प्रवाहित हैं, अविच्छिन्न रहे—

धरा पर हमारे युगल देश प्यारे
गगन के तले, धीर सागर सहारे
उभय—चीन-भारत—सुहृद बन पले हैं,
लिए हाथ में हाथ हरदम चले हैं।
मनश्चेतना और संस्कृति हमारी
रही एक सी सुष्ठु, निर्मल, सँवारी।
विगत दो सहस्राब्द जीवन हमारा
भरित स्नेह-संसर्ग सम्पर्क प्यारा॥
रहे भेद भौतिक—शिखर, शैल, प्रान्तर!
रहा एक अविभिन्न रस-सिक्त अन्तर!!
प्रकृति-आभरण तुम विरल-सृष्टि शोभन!
पधारे, मिला पूर्ण-परिचय, खिला मन!!

तंग राजवश के एक कवि द्वारा लिखित एक लय-वद्ध कविता 'कविता के सम्वन्ध में' की पक्तियो के योग से लिखित।

चेन ली-फू द्वारा

चीनी गण-तत्र के
३३वें वर्ष के पाँचव
मास में।

परिशिष्ट ३

(सर एस० राधाकृष्णन के सम्मान म दी गई चाय पार्टी के अवसर पर चीन की विद्वत्परिषद के अध्यक्ष डाक्टर चू चिया-हुआ का सन्देश—१०-५-१९४४।)

अपने देश मे आये हुए सर एस० राधाकृष्णन का स्वागत करने में हमें परम हर्ष और सम्मान का अनुभव हो रहा है। सर एस० राधाकृष्णन न केवल भारत में ही दर्शन-शास्त्र के एक महान् अधिकार-पूर्ण विद्वान् है वल्कि वह एक विश्व-विख्यात पण्डित है। वह न केवल भारतीय दर्शन-शास्त्र और धर्म के मान्य विद्वान् है, वल्कि पौर्वात्य और पाश्चात्य विचार-धाराओ के एक प्रथम कोटि के पडित है। और इसके साथ ही साथ वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक सूक्ष्म-दृष्टि विद्यार्थी भी है।

(उनके अध्ययन काल और उनकी सिद्धियो-सफलताओ का विवरण देने के वाद उन्होने कहा।)

भारत के साथ हमारे देश के सास्कृतिक सम्वन्धो का इतिहास कई

हजार वर्ष लम्बा है, विशेषकर दर्शन-शास्त्र और धर्म-शास्त्र के क्षेत्र में हम अपने महान् पडोसी भारत के बहुत ऋणी रहे है। मातग और गोभरण से लेकर इतनी बडी सख्या मे भारत के विद्वान् भिक्षु समय-समय पर चीन आते रहे है कि इतिहास का कोई भी लेखा इन घटनाओ का पूर्ण विवरण नही दे सकता। अपने सम सामयिक लोगो द्वारा उन सबका सम्मान किया गया और वे अनन्त भावी पीढियो को अपनी ज्ञान-ज्योति देने में समर्थ हुए। उन्होने विद्वत्समाज के सम्मुख सुन्दर आदर्शो की प्रतिष्ठा की और जनता के शिक्षको का काम किया। उन यशस्वी बौद्ध भिक्षुओ द्वारा अनेक बौद्ध-ग्रन्थो का सस्कृत से चीनी भाषा म अनुवाद किया गया। सत्य की खोज मे भारत जानेवाले चीनी भिक्षु भी असख्य थे। फाहियान और ह्वेन त्सैंग के आलेख भारतीय इतिहास के कुछ भूले अध्यायो को पूरा करते है। चैंग-आन छोड कर बौद्ध-सत्यो की खोज में भारत जानेवाले उन महाभाग भिक्षुओ में से दस प्रतिशत को भी भारत पहुँच सकने का सौभाग्य न प्राप्त हो सका और चीन वापस आ सकनेवालो की सख्या तो और भी कम थी। फिर भी, यह सब होते हुए भी, इन दोनो राष्ट्रो के बीच सास्कृतिक समागम तनिक भी अवरुद्ध नही हो सका। इस युग मे बौद्ध-ग्रन्थो के चीनी अनुवादो की सख्या १० हजार से भी ऊपर पहुँच गई। इनके साथ ही साथ विज्ञान और आयुर्वेद, कला और साहित्य सम्बन्धी अगणित ग्रन्थ भी चीनी भाषा में अनूदित हुए।

जैसा हम सब जानते है हैन और तैंग राजवशो के राज्य-काल चीन के इतिहास के स्वर्ण युग है। तथ्य तो यह है कि भारतीय सस्कृति का प्रवेश इस देश में हैन वश के राज्यकाल में प्रारम्भ हुआ और भारतीय तथा चोनी सस्कृतियो का सम्मिलन तैंग राजवश के राज्य-काल म

अपनी चरम सीमा पर पहुँचा। चीन के इतिहास में भारतीय संस्कृति के स्थान की महत्ता इस दृष्टि से आकी जा सकती है। साथ ही साथ हम यह भी देखेंगे कि इन दोनो देशो के घनिष्ठ सम्पर्क ने दोनो ही देशो की समृद्धि में योग दिया है। इसलिए आधुनिक काल में इन दोनो देशो के बीच विद्यार्थियो के आदान प्रदान का बन्द हो जाना न केवल इन दोनो सभ्यताओ के लिए एक दुर्भाग्य-पूर्ण बात है बल्कि समूची मानव-जाति पर उसका अनिष्टकारी प्रभाव पडता है।

लगभग २० वर्ष पहले डाक्टर टैगोर चीन पधारे थे। उनके आगमन ने चीन और भारत के बीच मैत्री का विकास करने के साथ चीनी संस्कृति के पुनरुज्जीवन में बडी सहायता दी है। जब से युद्ध प्रारम्भ हुआ है, भारतीय लोगो ने चीनी जनता को बहुत अधिक नैतिक सहायता दी है और इस प्रकार जो हमारी अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता कई सदियो से विच्छिन्न हो चुकी थी, फिर जीवित हो उठी है। यह महान् घटना इन दोनो संस्कृतियो के पुनरुज्जीवन और दोनो जातियो के पुनरुत्थान का संकेत करती है, इसीलिए यह मानवता के अरुणोदय की भी सूचना देती है।

जैसा हमने कहा है, सर राधाकृष्णन का भारतीय संस्कृति का ज्ञान अगाध है और उनकी व्याख्या अप्रतिम, इसलिए चीन में उनका आगमन इस देश में भारतीय संस्कृति के पुन प्रवेश की भाँति है। भारतीय संस्कृति को समझने के लिए यहाँ हम स्वय सर एस० राधाकृष्णन के शब्दो का उद्धरण दे सकते है। अपने निबन्ध 'हिन्दूइज्म ऐण्ड दि वेस्ट'--(हिन्दू धर्म और पश्चिम) मे उन्होने कहा है "भारत एक ऐसी सभ्यता का देश है जो अपने उद्भव में सम्भवत उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीन मिश्र की या सुमेरियन सभ्यता है पर

उनके विपरीत वह आज भी सजीव सक्रिय है और ससार की समूची मानव-जाति के लगभग पचमाश के जीवन का आत्म-तत्त्व बनी हुई है। इसने सिद्ध-सन्तो और ऋषि मुनियो, कवियो और दार्शनिको, कलाकारो और राजनीति-विशारदो को जन्म दिया है और आज भी ऐसी विभूतियो को जन्म दे रही है। इसने बोद्ध, जैन और सिख-मत जैसे विश्वव्यापी महत्त्व के आन्दोलनो को जन्म दिया है।" अपने विशिष्ट निबन्ध, "इण्डियन फिलासफी" (भारतीय दर्शन-शास्त्र) में आपने लिखा है कि भारत में दर्शन-शास्त्र तत्त्वत आध्यात्मिक है और आध्यात्मिक प्रयोजन ही भारतीय जीवन में प्रधानता प्राप्त किये है, अन्तिम सत्य आध्यात्मिक सत्य है, और उन्ही के प्रकाश में व्यावहारिक जीवन का शोधन करना है। श्री राधाकृष्णन परम्परागत भारतीय दर्शन शास्त्र और धर्म-शास्त्र के यथातथ्य रूप की व्याख्या मात्र नही करते, उन्होने आधुनिक भारत के नव जीवन को समृद्ध बनाने के लिए और अपने देश के दर्शन और धर्म का पुनर्निर्माण करने के लिए आधुनिक युग के दर्शन-शास्त्र और धर्म की तात्विक भावना को भी आत्मलीन करने की कोशिश की है। वह हिन्दू-धर्म के सुधारवादी दल में है। यद्यपि हिन्दू-धर्म और बौद्ध एक ही धर्म नही है, फिर भी बौद्ध-धर्म के सारभूत उपदेशो को हिन्दू-धर्म मे अपना लिया गया है। यद्यपि चीन के सभी लोग बौद्ध नही है, फिर भी सामान्यत बौद्ध-विचार और उपदेश अपना लिए गये है, और इसका यह अर्थ हुआ कि भारत के विचारो को चीन के बहुमत द्वारा अगीकार कर लिया गया है।

भारतीय विचार-धारा और ज्ञान को सर एस० राधाकृष्णन ने पहले ही एक उल्लेखनीय देन दी है, इस देश मे अपने अल्प प्रवास में यहाँ भी ज्ञान क्षेत्र में वह एक नवीन प्रेरणा देगे इसमें सन्देह नही है। चीन

को उनकी देन उतनी ही महान् होगी जितनी महान् देन कुछ वर्ष पहले डाक्टर टैगोर अपने चीन आगमन के समय दे गये थे।

अन्त में चीनी-भारतीय-सांस्कृतिक-समाज की ओर से मैं चीन और भारत के बीच मैत्री बढाने पर बधाई देता हूँ और कामना करता हूँ कि भारतीय और चीनी सस्कृतियो का सम्मिलन चिरस्थायी हो।

(हस्ताक्षर) डाक्टर चू चिया-हुआ।

चीन और भारत की प्राचीन सस्कृतियाँ महान् और उन्नत है, दोनो देशो के लोगो के बीच मैत्री का एक लम्बा इतिहास है और यह मैत्री उन आदर्शो पर आधारित है जो समूचे ससार के लिए कल्याणकारी है। इस मैत्री का प्रकाश पिछले कुछ हजार वर्षो में ससार के लिए अत्यन्त बहुमूल्य सिद्ध हुआ है। पुराने बीते युग में जब हमारी दोनो सस्कृतियाँ विकासशील थी और हमारे देश समृद्ध थे तब हमारी पारस्परिक मैत्री भी गम्भीर थी। यही युग वह समय था जब मानव-जाति परम सुखी थी। हम आशा करते है कि इस ऐतिहासिक दाय — पूर्वजो की इस देन की रक्षा और उसका सम्मान हम करेंगे और मानव-जाति को आज के दैन्य से बाहर निकाल कर आनन्दावस्था में ले जाने के लिए उस देन के प्रभाव को विकीर्ण करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करेंगे। हमारे दोनो देशो के महात्माओ की यही कामना थी और हम उनकी कामना को पूरा करने में पीछे न हटेंगे।

इस उद्देश्य और पूर्ण सत्यनिष्ठा और सम्मान के साथ हम सर एस० राधाकृष्णन का स्वागत करते है जो बहुत दूर से हमारे देश पधारे है।

—ताई चुआन-सीन,

१० मई, १९४४। परीक्षा समिति के अध्यक्ष।

परिशिष्ट ४

(चीन की राष्ट्रीय सरकार के सेनापति जनरल लू चाओ-द्वारा धर्म पर विश्वास रखनेवालो के सघ के तत्वावधान में १२ मई सन् १९४४ को चुगकिग के मुसलमान उपाहार-गृह मे सर एस० राधाकृष्णन् के सम्मान में अध्यक्षपद से दिया गया स्वागत भाषण।)

वास्तव मे हमारे लिए यह बडे हर्ष और आनन्द की बात है कि आज अपराह्न में चीन के धर्म-विश्वासियो के सघ के तत्वावधान में हम अपने विशिष्ट अतिथि, विख्यात भारतीय विद्वान और दार्शनिक, सर एस० राधाकृष्णन् का स्वागत कर रहे है, क्योकि आज हमें उनके दर्शन के साथ-साथ उनका भाषण सुनने का भी सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

चीन का प्रतिरोध-सग्राम बहुत शीघ्र आठवें वर्ष मे प्रवेश करेगा। इन पिछले वर्षों में चीन की जनता युद्ध-क्षेत्र में मानव-जाति की शान्ति और उसके सदाचार की रक्षा करते हुए दुर्द्धर्षता और ओजस्विता के साथ युद्ध करती आ रही है। यद्यपि अपने शत्रु से हम अनेक अर्थो में पिछडे है, दुर्बल है फिर भी हम कभी परागमुख नही होते। हम अपने सहृदय पडोसी भारत के प्रति उसकी महान् आध्यात्मिक और भौतिक सहायता के लिए बहुत अधिक आभारी है। जबसे सुदूर पूर्व और समूचे ससार पर युद्ध की भयावनी आग फैली है तब से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि अपने सामान्य शत्रु का सामना करते हुए शान्ति-प्रेमी राष्ट्र कन्धे से कन्धा मिलाकर एक हो जायँगे। लेकिन अपने भौगोलिक ससर्ग और धार्मिक तथा सास्कृतिक समागम के कारण इन दोनो देशो, चीन और भारत, के बीच अधिक पारस्परिक सद्बोध और सहानुभूति सम्भव है। युद्ध-काल में दोनो के सौभाग्य और दुर्भाग्य

परस्पर सम्बन्धित है, और शान्ति स्थापित हो जाने के बाद समृद्धि और विपत्ति--दोनो में ही, दोनो एक दूसरे के साझीदार होगे।

हम अपनी अन्तिम विजय की ओर जैसे-जैसे आगे बढते जा रहे है वैसे ही सम्भव है अब भी ऐसे कुछ लोग हो जिन्हें इस बात का सन्देह हो कि चीनी राष्ट्र वास्तव में नितान्त शान्तिप्रिय है या नही। अब सर राधाकृष्णन् एक दार्शनिक और एक धार्मिक विश्वविद्यालय के उत्तरदायी सचालक के रूप में और एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जो योरोप और अमरीका में विस्तृत भ्रमण कर चुका है, हमारे बीच उपस्थित हो कर और हमारे जातीय लोगो से मिल-जुल कर इस तथ्य की पुष्टि करेंगे। इस प्रकार धर्म-विश्वासियो का हमारा यह सघ ही हमारी एकता और शान्ति का प्रतीक है जिसमें इस देश के चार प्रधान धर्मो के अनुयायी--बौद्ध, मुसलमान-कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट---सम्मिलित होते है। सदियो से चीन के लोग उदार चेतना, स्वामिभक्ति, क्षमा, प्रेम, शान्ति और दयालुता में डूबे रहे है, अन्यथा इस प्रकार का सगठन शायद ही बन सकता हो। इस सघ का इतिहास बहुत छोटा है--एक वर्ष से कुछ ही अधिक, और इसका उद्देश्य रहा है चीन के इन प्रधान धर्मो के अनुयायियो के बीच मित्रता की अभिवृद्धि करना। यह चारो धर्म चीन के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय गुणो से परिलक्षित होते है। इस सगठन के विशिष्ट उद्देश्य है धार्मिक स्वतत्रता का सम्मान, आध्यात्मिक अनुशीलन पर जोर, सामाजिक सेवा का उपक्रम, राष्ट्रीय प्रतिरोध और पुनर्निर्माण को सहायता और अन्तत विश्व-शान्ति की अभिवृद्धि।

इसलिए हमारी यह बडी कामना है कि हमारे विशिष्ट अतिथि आज कृपा-पूर्वक हमें अपनी टीकाओ और अपने उपदेशो से कृतार्थ करें और हम यह भी आशा करते है कि वे इस सस्था का परिचय उन सस्थाओ

से करा देंगे जिनके सम्पर्क में वह अपने देश या अन्य देशो मे आयें।

चीन के अपने दौरे में सर एस० राधाकृष्णन् न केवल ज्ञान और प्रविधियो के क्षेत्र में महान् योग-दान देंगे वल्कि हर अवस्था मे चीन की परिस्थितियो का सूक्ष्म अध्ययन भी करेंगे। स्वभावत इन दोनो राष्ट्रो के भावी सहयोग में यह वहुत सहायक होगा। विशेष रूप से हमें आशा है कि धर्म के मामलो मे अपने विशिष्ट अतिथि से हमें अमूल्य ज्ञान-लाभ होगा। आओ आज अपराह्न हम अपने-अपने प्याले ओठो मे लगाये और इस सीधी-सादी पर मन को प्रसन्न करनेवाली चाय से अपने विशिष्ट अतिथि का स्वागत करें और कामना करें कि उन्हें सुन्दर स्वास्थ्य और अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हो।

चीन के धर्म-विश्वासियो के सघ द्वारा सर एस० राधाकृष्णन् की सेवा मे समर्पित——

पुरातन देश—भारत-चीन से—सहचर परस्पर थे।
मधुरतम सास्कृतिक सम्बन्ध सदियो तक निरन्तर थे।।
विभव में साथ हँस खेले, विपद् झेली सदा मिल कर
विपति सम्पत्ति के साथी सुहृद हम है, निरन्तर थे।।

हुआ प्रारम्भ जब से यह द्वितीय महासमर जग में,
वढे हम मित्र-राष्ट्र बने, भयानक युद्ध के मग में।।
समर-सलग्न हैं हम, लक्ष्य मानव-जातिका मगल,
व अपनी मुक्ति औ स्वाधीन-जीवन-सिद्धि इस जग में।।

हमारी मित्रता दृढतर हुई, इस देश आप आए।
सुमन सम्मान के भवदीय स्वागत में ये विखराए।।
यहाँ के बौद्ध, मुसलिम, प्रोटेस्टैण्ट व कैथोलिक मिलकर
सबो ने एक स्वर से गीत स्वागत के हैं यह गाए।।

पूर्ण सत्य-निष्ठा से, हृदय की गहनतम
भावना से आओ हम प्रार्थना करें पुनीत—
देव-देव! पावन-परम धर्म ज्योति फैले
वसुधा धवल-धन्य बन जाय ज्योति-स्फीत।।
वर दो कि देव! धरा-धाम बन जाय स्वर्ग
दिव्य देव-पुत्र बने मनु-पुत्र मन जीत।।
और स्नेह-सिक्त बन्धु-भावना में बंध जाय
मानव से मानव, हृदय गाए पुण्य-गीत।।

परिशिष्ट ५

सदियो से बौद्ध-धर्म व्याप्त है चीन में।
आज कन्फ्यूशियन औ हिन्दू विचार-धारा
घुल-मिल एक हो रही हैं जन-जीवन में।
त्रस्त आज मानवता है,
विपुल विषमता से और संघर्ष से।
इस वात्याचक्र में
भवदीय आगमन देश में हमारे
शुभ-शान्ति औ अनन्त-सुषमा का जन्मदाता हो।

[परम पुनीत महास्थविर ताई सू द्वारा सर एस० राधाकृष्णन को त्सिन-युन पहाड़ियो पर समर्पित कविता।—श्री० वाई० एच० कू द्वारा अनूदित (अंग्रेजी में)]

परिशिष्ट ६

शिक्षा-मन्त्रालय, चुगकिंग, चीन।
चीन में सर एस० राधाकृष्णन के शुभागमन पर —

एक बार चीन देश आए वह कृपागार।
भेंट भी न जिन से हुई थी कभी एक बार
भाल पर मैत्री का तिलक उन्होंने दिया;
अपना बनाया उन्हें, अपना बताया उन्हें।
चीन के हृदय के स्पन्दन की अनुभूति
उनने की, और दशा चीन के मन की
मन ही मन जान गए, और निज मित्र से
बोले, 'बन्धुवर! जहाँ साधु और सन्त हैं
सुखद प्रकाश वहाँ नित्य-नव फूटेगा
संस्कृति का, जीवन का—यह ध्रुव-सत्य है।'